मनोविज्ञान और शिक्षा-शास्त्र

(नार्मल स्कूलों और शिक्षा-प्रेमियों के लिए
मनोविज्ञान की पुस्तक)

लेखक

भैरवनाथ झा

बी० एस-सी०, एल० टी० (इलाहाबाद), बी० एड० (एडिनबरा),
पी० ई० एस०, मनोविज्ञान-अध्यापक, ट्रेनिङ्ग कालिज,
इलाहाबाद

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
इलाहाबाद

पञ्चम बार　　१९४३　　मूल्य १॥)

INTRODUCTION

There is hardly any science which has influenced the social studies at the present time so much as the science of psychology. Education in whatever sense it may be understood, aims at individual self-realisation and social cohesion. With the crystallisation of the modern philosophy of education, the connection of education and social development, and the relationship of school and society have been made clear. Educationists, therefore cannot do without taking cognizance of the growing science which has of late been influencing all human and social studies In fact, a branch of psychological study going by the name of educational psychology has not only sprung up but sufficiently developed.

A book dealing with the principles of modern psychology of education in vernacular has long been overdue To fulfil this need and to help those engaged in vernacular education this book has been written In main it has tried to cover the syllabus recently laid down by the Education Department for the Normal Schools While embodying what is in that syllabus, I have taken a wider view in order to increase the general usefulness of the book. The basic principles are those which has emerged from the views of such original thinkers on the subject as McDougall Drever

Nunn, Burt etc. I have contented myself with sketching the arguments of the various thinkers, and have made comments on their arguments and conclusions, but I have tried to avoid being dogmatic Wherever available simple and reliable evidence from experimental psychology have been utilized

One of my chief difficulties has been the expression of psychological ideas in vernacular through suitable technical terms I have selected the terms from 'The Hindi Scientific Glossary' of the Nagri Pracharini Sabha, Benares, and 'The Hindi Scientific Terminology' of the Vignyana Parishat, Prayag, after a due consideration of the various alternatives available. A glossary has been added at the end I shall welcome any suggestions as would make the ideas better comprehensible. I would however, request enthusiasts for popular words to avoid sacrificing scientific correctness and definiteness as the vernacular literature on this subject is still undeveloped My difficulty has sometimes been particularly intricate, for instance the use of the word शक्ति has become inevitable, and it is for the reader to sift and see that although I have been constrained to use this term freely, I have not been a believer in 'faculty psychology' A 'faculty psychology' offers easy tools in the hands of the teacher, but for anyone deeping below the surface in order to understand the real basis of mental phenomena, it is misleading And budding ...chers, to my mind, must be kept away from any ...sleading conceptions. Again, while supporting results

deprived from objective experiments, I must confess, I do not believe in the extreme American behaviourism which discards introspection altogether I believe in taking into account the characteristics of a living organism which enter in a subjective way in all experiments however controlled, hence making it necessary to study all factorial data obtainable from the subject

The second chapter on certain fundamental ideas may be left out by the reader in the beginning so far as a complete understanding of it is concerned, but he should return to it again to make his views definite I have added two chapters at the end (1) on Intellegence Testing and (2) on Some Intellectual and Emotional Faults and how to meet them In the Chapter on Intelligence Testing I have mentioned both individual and group tests So far as the nature of intelligence is concerned I have only treated Binet's view which is rather inclined towards faculties I regard the 'electrtc doctrine' of Spearman as necessary for any complete treatment of the subject, but 'G' Is rather unintelligible without the understanding of its mathematical basis which cannot be touched in an elementary book of this nature I have therefore not mentioned it, but teachers with a set of intelligent pupil teachers may find it profitable to treat it The last chapter on the faults of conduct, behaviour and intellectual studies, has been added at the suggestion of some of the Head Masters of the Normal Schools I should wish the material therein to be taken as provoking thought on certaia

lines with a view to study individual children, rather than as a conglomeration of certain formulae which may be got up to be youred out in an answer paper or blindly applied in the work To help the pupil teachers to test their comprehension of the salient points a set of useful questions has been appended Needless to emphasise that they are meant more to aid comprehension than to restrict a candidate's preparation for an examination

I thank all those who have enlightened me with suggestions from time to time I am indebted particularly to my friend Pandit Sri Narayan Chaturvedi, M A, L T (Allahabad), M A (London), P E S, for kindly going through the proof

ALLAHABAD,
16th April '32

B N JHA,

भूमिका

भूमिका मे इसके लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है कि मनोविज्ञान और शिक्षा-शास्त्र का क्या सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध पाठक को पुस्तक के पढने से पूर्ण-रूप से स्वय विदित हो जायगा। शिक्षा बालको के शारीरिक और मानसिक व्यापारों का विकास है। उचित परिस्थिति में इनका विकास होने से हम ऐसे व्यक्ति तैयार कर सकते हैं जो अपना जीवन समाज के लिए उपयोगी बना सकें और उसकी उन्नति करने में सहायक हो सकें। बालक की प्रवृत्तियाँ क्या हैं, उनका किस प्रकार विकास होता है, क्या करने से वे उचित मार्ग मे लगाई जा सकती हैं बालक के मानसिक व्यापार क्या हैं, और वह अपने व्यवहार में उनका प्रयोग किस प्रकार करता है,—ये सब बातें अध्यापक को मनोविज्ञान बताता है। इसलिए अध्यापक को इस विषय का जानना बहुत आवश्यक है।

यह पुस्तक नार्मल स्कूल के प्यूपिल टीचरो, अन्य अध्यापको और शिक्षा-प्रेमियो के लिए लिखी गई है। उनके लिए यह जानना आवश्यक है कि शिक्षा-प्रणाली पर मनोविज्ञान ने वर्तमान काल में क्या प्रभाव डाला है। शिक्षा-प्रणाली के नियम मनोविज्ञान के विचार पर स्थापित हैं। जो नियम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित नहीं होता वह उपयोगी नहीं माना जा सकता। शिक्षा के नियमो को केवल जानने से अध्यापक काम तो ठीक कर सकता है, परन्तु इन नियमो का जानना और उनका यंत्रवत् प्रयोग करना उसके लिए पर्याप्त नहीं। अध्यापक को एक वैज्ञानिक मिस्त्री की तरह मनोविज्ञान के नियमों का अध्ययन करना चाहिए। उसे चाहिए कि वह उनके कारणों का विश्लेषण कर सकने की योग्यता उत्पन्न कर ले। बालक प्राणी है, निर्जीव

वस्तु तो है नहीं जिसके साथ यन्त्रवत् व्यवहार किया जा सकता हो। तब बालक की मानसिक स्थिति जाने बिना उसके साथ उचित व्यवहार कैसे किया जा सकता है !

पुस्तक में जहाँ तक हो सका है आधुनिक पश्चिमी मनोविज्ञान-वेत्ताओ के विचारों को प्रकट किया गया है। पश्चिमी देशो मे प्रयोग और क्रियाएँ भी इस विषय में बहुत की जा रही हैं। इन प्रयोगों के उन परिणामों का, जो कि अध्यापक को सहायक हो सकते हैं, जगह जगह उल्लेख किया गया है।

मनोवैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दो के चुनने में कठिनाई उपस्थित हुई है। परन्तु काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा और विज्ञान-परिषद् प्रयाग के कोषों से चुनकर उचित शब्दो का प्रयोग किया गया है। आशा है पाठक को कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होगी।

विषय सोचकर धीरे-धीरे पढने योग्य है। पाठको को हर बात पर स्वयं विचार करने की आवश्यकता है। यह विषय तोता-रटन्त से कभी नहीं आ सकता। ऐसे विषय के नियमो को समझते हुए मनन करने और उचित उदाहरणो पर विचार करने ही से कुछ लाभ हो सकता है। अगर इस पुस्तक को पढकर वर्नाक्यूलर स्कूलो के अध्यापक और दूसरे सज्जन, जो शिक्षा में रुचि रखते हैं, कुछ लाभ उठायेगे तो मै अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

प्रयाग
चैत्र शुक्ल ९, स० १९८९

भैरवनाथ झा

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
१—मनोविज्ञान और शिक्षा-शास्त्र	...	.	१
Psychology and Education			
२—मनोविज्ञान-सम्बन्धी कुछ मौलिक बाते		...	१०
Some Fundamental Facts			
३—परम्परा और प्रतिवेश (सहवास)	...	...	२४
Heredity and Environment			
४—प्राकृतिक शक्ति और अंत:क्षोभ	...	...	३२
Instinct and Emotion			
५—मनुष्य की मुख्य प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ	...	...	४४
Chief Human Tendencies			
६—चरित्र-गठन और व्यवसाय	...	...	६५
Character Formation and Will			
७—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान और सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान			८२
Sensation and Perception			
८—अवधान और रुचि...	...	...	९२
Attention and Interest			
९—विचार-सम्बन्ध और स्मृति	...	...	११२
Association of Ideas and Memory			

विषय				पृष्ठ
१०—स्वभाव या आदत ...		...	...	१४०
Habits				
११—भावना-शक्ति	...	...	...	१५१
Imagination				
१२—थकान	...	...	...	१६४
Fatigue				
१३—बुद्धि-परीक्षा	...	...		१७८
Intelligence Testing				
१४—कुछ उपयोगी बातें...		...	...	१६८
Some Common Faults of Children and their Analysis				

१—मनोविज्ञान और शिक्षा-शास्त्र

I. Psychology and Education

मनोविज्ञान एक ऐसी विद्या है जिसका ज्ञान होना वर्तमान काल मे हर एक अध्यापक के लिए आवश्यक है। पठन-पाठन का कार्य प्राचीन काल से बहुत देशों मे होता चला आ रहा है। परन्तु मनोविज्ञान के जानने से अध्यापक को अपने कार्य में कितनी सहायता मिल सकती है और कहाँ तक वह उसके कार्य पर प्रभाव डाल सकता है, इस बात पर केवल थोड़े ही वर्षों से पूर्ण रूप से विचार किया जाने लगा है। प्राचीन काल के अध्यापक के लिए जो विद्या—भाषा अथवा गणित, अथवा भूगोल—बालक को सिखाना हो उसी का जानना आवश्यक समझा जाता था। जो पुरुष किसी विद्या में प्रवीण है वह उसे सिखा सकता है। यह कहना कि वर्तमान काल में यह बात सत्य नहीं है ठीक न होगा। परन्तु साथ ही इसके यह भी सम्भव है कि विद्या जानते हुए भी बालक की प्रकृति न जानने के कारण अध्यापक बालक को उत्तम रीति से न पढ़ा सके। लन्दन के एक पुराने प्रोफेसर सर जान ऐडम्स (Sir John Adams) ने, जो अभी जीवित हैं, कहा है कि उस अध्यापक को जो कि स्मिथ नाम के लड़के को लैटिन भाषा

सिखाना चाहता है केवल लैटिन जानना ही आवश्यक नहीं है बल्कि उसे स्मिथ को भी पूर्ण रीति से जानना चाहिए। स्मिथ के जानने से उनका आशय स्मिथ की मनोवृत्ति को जानना है। आज से कई सौ वर्ष हुए, स्विट्जरलैंड (Switzerland) देश मे एक महान् अध्यापक हो चुका है जिसका नाम पैस्टालॉजी (Pestalozzi) था। उसने पहले पहल इस बात पर जोर दिया कि अध्यापक का मुख्य कर्तव्य है कि वह अपने शिष्यो की मनोवृत्ति को जाने। वह अपने कार्य मे तब तक सफलता नहीं प्राप्त कर सकता जब तक कि उसे इस बात का ज्ञान न हो कि उसके विद्यार्थी की मानसिक स्थिति क्या है, उसका मानसिक विकास किस प्रकार होता है, मस्तिष्क मे विचार किस प्रकार उत्पन्न होते है, बालक मे मानसिक शक्ति क्या है और शिक्षा के कार्य मे उसका कहाँ तक प्रयोग हो सकता है। यह तो कहना सत्य न होगा कि पैस्टालॉजी के पहले किसी ने इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया था परन्तु यह अवश्य है कि उससे पहले इस बात पर कि मनोविज्ञान अध्यापक के कार्य पर पूरा प्रकाश डाल सकता है, किसी ने पूरा विचार न किया था और न अपने कार्य मे उसका प्रयोग ही किया था। इस कारण इस बात का श्रेय उसी को प्रदान किया जाता है। पैस्टालॉजी इस विद्या का अधिक [illegible] न कर सका परन्तु उसके पश्चात् जितने शिक्षा-विज्ञान [illegible] हुए—अर्थात् फ्रिबल, हर्बार्ट, मान्टसोरी, ड्यूई

(Frœbel, Herbart, Montessori, Dewey)—उन्होंने उसके भावों को विस्तारपूर्वक फैलाया और मनोविज्ञान का शिक्षा-शास्त्र में पूरा प्रयोग किया। अगर कहीं वह आज जीवित रहता तो उसे वर्तमान स्थिति देखकर बड़ा हर्ष होता। बेचारे पैस्टालॉज़ी के लिए बहुत कठिनाइयाँ थीं। मुख्य कारण यह था कि आज से सौ वर्ष पहले मनोविज्ञान के बारे में लोग उतना न जानते थे जितना वर्तमान काल में जानते हैं। ऐसी विद्या का—कि जिसका रूप पूर्ण रीति से स्पष्ट न था, जिसके बारे में वैज्ञानिक लोग यह नहीं निश्चित कर सके थे कि वह विद्या क्या है और उसके उद्देश्य क्या हैं—किसी बात पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ सकता था। मनोविज्ञान ने, केवल थोड़ा ही समय हुआ, एक विज्ञान का रूप धारण किया है और विज्ञानवेत्ता इस बात को निश्चय कर सके हैं कि इस विद्या का अध्ययन किन रीतियों से और क्या उद्देश्य सामने रखकर किया जाय। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनोविज्ञान अभी आरंभिक अवस्था में है। परन्तु थोड़े से ही समय में इस विज्ञान ने इतनी उन्नति की है कि कोई भी विज्ञान, जो कि मनुष्य की मानसिक स्थिति से संबंध रखता है, बिना इस विज्ञान की निश्चित की हुई बातों को प्रयोग में लाये अपना कार्य पूर्ण रूप से नहीं चला सकता। मानसिक मामलों पर जो कल्पनाएँ और विचार प्राचीन काल से चले आ रहे हैं उनका संशोधन किया गया है। मनुष्य और

जीव-जतुओ पर नाना प्रकार के प्रयोग किये गये है जिनसे उनके मानसिक व्यापारो का पता चले। शिक्षा-शास्त्र पर तो इसने वहुत ही अधिक प्रकाश डाला है। यहाँ तक कि सफलता चाहनेवाले अध्यापक के लिए इसके नियमो का जानना वड़ा आवश्यक हो गया है।

किसी विद्या का प्रयोग करने से पहले इस वात को निश्चय रूप से जानना आवश्यक है कि वह विद्या क्या है और वह हमे क्या वतलाती है। इसलिए अव हम इस वात को देखेगे कि वर्तमान काल मे मनोविज्ञान से हम क्या समझते है और इस विज्ञान के मुख्य उद्देश्य क्या है।

मनोविज्ञान, जिस रूप मे आज-कल हम उसे पाते है, एक नवीन विद्या है। परन्तु किसी न किसी रूप मे वह वहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। प्राचीन समय मे यह तर्क-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र का एक अंग था। तत्त्वज्ञानियो को इस वात की चिन्ता थी कि वह इस वात का पता लगावे कि आत्मा क्या है। आत्मा और शरीर का क्या सम्वन्ध है? आज से २,००० वर्ष से अधिक पहले यूनान (Greece) देश मे प्लेटो (Plato) और उसके उपरान्त उसका शिष्य एरिस्टोटल (Aristotle) नामक दो वड़े विख्यात ज्ञानी हो चुके हैं। सच जाय तो इन्होने ही पश्चिमी देशो मे दर्शनशास्त्र की ली।

उस समय आत्मा के विषय में जो कुछ भी विचार प्रचलित थे एरिस्टोटल ने उनको एक निश्चित रूप दिया। उसका यह कथन था कि किसी जीव की मुख्य वस्तु आत्मा है। बिना आत्मा के शरीर केवल एक मृत शरीर या लाश के समान है। जीव जो कुछ है और जो कुछ कर सकता है उसका मुख्य कारण उसकी आत्मा है। कुछ समय बीतने पर ज्ञानियों ने यह निश्चित किया कि आत्मा की, जो कि जीव के लिए मुख्य वस्तु है, दो दशाएँ होती है। एक वह जो कि मनुष्य को मानसिक शक्ति प्रदान करती है और दूसरी वह जिसके कारण वह धर्म-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मानसिक और धर्म-सम्बन्धी यह दो भेद होते ही मनोविज्ञान मानसिक विज्ञानियों के पास रह गया और दूसरे पर दार्शनिक लोग विचार करने लगे। इस पर विचार होने लगा कि मानसिक शक्ति क्या है और उसका मनुष्य की देह से क्या सम्बन्ध है, मानसिक और दैहिक शक्तियाँ जुदी जुदी हैं पर जुदी होते हुए भी एक का प्रभाव दूसरे पर किस प्रकार पड़ता है। इस मामले पर डेकार्ट (Descartes) नामक एक फरासीसी विज्ञानवेत्ता ने पहले-पहल विचार प्रकट किये। उसने मन (mind) और जड़ पदार्थ (matter) का भेद स्पष्ट कर दिया। उसने कहा ये दोनो ही पदार्थ है और इनमे कोई प्राकृतिक सम्बन्ध नहीं है। जड पदार्थ वह पदार्थ है जो कि जगह घेरता है, और मन वह वस्तु है जिसे ...

की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। मन का मुख्य कर्त्तव्य यह है कि वह मनुष्य को चेतना प्रदान करे। चित्तवृत्ति का मुख्य कारण मन है और मन केवल चित्तवृत्ति के ही रूप मे प्रकट होता है। डेकार्ट की इस मीमासा का यह फल हुआ कि विज्ञानवेत्ताओ ने उस समय से मनुष्य की चित्तवृत्ति पर विचार करना अपना मुख्य कर्तव्य मान लिया। ज्ञानियो ने चित्तवृत्ति के नाना प्रकार के अर्थ लगाने आरम्भ किये। सबमे सरल उनमे से यह था कि मनुष्य की चित्तवृत्ति उसकी अभिज्ञता है। जब मनुष्य नि स्वप्न घोर निद्रा मे होता है उस समय उसमे कुछ चित्तवृत्ति नहीं होती। ज्यो ज्यो निद्रा का प्रभाव उस पर से हटता जाता है और वह जाग्रत होता जाता है त्यो त्यो उसकी चित्तवृत्ति अधिक होती जाती है। चेतना का पता केवल अन्तरावलोकन से लग सकता है। हर एक मनुष्य की चेतना जुदी जुदी है और उसका पता केवल उसी मनुष्य को अन्तरावलोकन से चल सकता है। अपनी चित्तवृत्ति का हाल अन्तरावलोकन से जानकर हम अनुमान कर सकते है कि वैसी ही दशा मे दूसरे मनुष्य की चित्तवृत्ति ऐसी ही रही होगी या हो सकती है। इस कारण विज्ञानवेत्ताओ ने चेतना के विषय में चिन्तन करना अपना मुख्य कर्तव्य समझा। थोड़ा समय बीतने के उपरान्त यह सोचा गया कि मनुष्य जो , काम करता है वह चैतन्य अवस्था ही मे करता है। समय यह भी सोचा गया कि मनुष्य के सम्मुख जब

कोई उत्तेजना प्रकट होती है तभी वह व्यवहार करता है। व्यवहार करते समय उसे चेतना रहती है। अतएव यदि चेतना का पता लगाना है तो उसके व्यवहार को निरीक्षण करने से लग सकता है। इस कारण विज्ञानवेत्ताओं ने मनुष्य के व्यवहार को देखना, उसे समझना और उस पर विचार करना मुख्य कर्तव्य ठहराया। इस प्रकार तर्क-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र से आरम्भ होकर इस विद्या ने अनेक रूप बदले। पहले-पहल आत्मविद्या हुई, फिर मनोविद्या। उसके उपरान्त चेतनविद्या और फिर मनोव्यवहार की विद्या। व्यवहार को चेतना का मुख्य स्वरूप मानने से इस विद्या में एक नई बात आ गई। इसके अध्ययन की विधि बदल गई। व्यवहार से हर एक बात का संशोधन करना आरम्भ हो गया। पहले केवल अन्तरावलोकन से ही मनुष्य की चेतना का पता लग सकता था। अब चेतना के व्यवहार रूप में प्रकट हो जाने से सब कठिनाई दूर हो गई। अन्तरा-वलोकन कोई भी व्यक्ति स्वयं ही कर सकता है परन्तु उसके व्यवहार को दूसरे लोग भी देख सकते हैं। जब मनुष्य के सम्मुख उत्तेजना उपस्थित होती है तब वह प्रायः व्यवहार करता ही है, उस व्यवहार से उसकी मनोवृत्ति का पता चल जायगा। इसलिए मनोविज्ञान में प्रयोगशैली का आरम्भ हुआ और मनुष्य तथा जीव-जंतुओं पर नाना प्रकार के प्रयोग किये जाने लगे। इन सबका नतीजा यह हुआ कि

थोड़े ही समय में इस विद्या ने एक पूर्ण विज्ञान का रूप धारण कर लिया। आज-कल जो प्रयोग किये जा रहे हैं उनसे यह आसानी से पता चल सकता है कि मनोविज्ञान के अध्ययन की रीति रसायन-शास्त्र और भौतिक विज्ञान के अध्ययन की रीति के समान होती जा रही है। मनोविज्ञान रसायन या भौतिक विज्ञान का पूर्ण रूप तो धारण नहीं कर सकता क्योंकि उनमें जड़ वस्तु पर प्रयोग किया जाता है परन्तु मनोविज्ञान में जीवित वस्तु पर। दोनों की तुलना एक आधार पर नहीं की जा सकती। कुछ व्यावहारिक विज्ञानवेत्ताओं का तो, जो कि अन्तरावलोकन के विरुद्ध हैं—जैसे कि वाटसन (Watson), थार्नडाइक (Thorndike) अमरीका में और पावलो (Pavlov) रूस में, यह पक्ष है कि मनोविज्ञान भौतिक विज्ञान इत्यादि के समान है। इन लोगो ने कुत्ते बिल्ली चूहे बन्दर इत्यादि जानवरो पर बहुत प्रयोग किये हैं और अनेक कल्पनाएँ उपस्थित की हैं। परन्तु इँगलैंड स्काटलैंड और जरमनी के मनोविज्ञानवेत्ता व्यवहार को मुख्य मानते हुए भी अन्तरावलोकन पर ध्यान देना उचित समझते हैं।

मनोविज्ञान में व्यवहार पर जोर देने के कारण इस विज्ञान का प्रभाव शिक्षा-शास्त्र के ऊपर बहुत पड़ा है। बच्चों के व्यवहार का निरीक्षण किया गया है और किया जा रहा है। उनकी मनोवृत्ति समझने के लिए उनके ऊपर तरह तरह

२—मनोविज्ञान-सम्बन्धी कुछ मौलिक बातें

II. Some Fundamental Facts

मनोविज्ञान के आधार पर शिक्षा-शास्त्र के नियम क्या क्या होने चाहिए, इस बात को निश्चय करने से पहले हम कुछ उन मौलिक बातों पर विचार करेंगे जो कि हर एक विद्यार्थी को जाननी चाहिए।

(१) पहली बात जो कि हमें जान लेनी चाहिए वह यह है कि इस विज्ञान में हम एक जीवित जागृत वस्तु के व्यवहार का निरीक्षण करते हैं। भौतिक विज्ञान और रसायन-शास्त्र में हम जड़ वस्तुओं पर प्रयोग करते हैं और उनका निरीक्षण करके हम किसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं। मनोविज्ञान में हम सजीव द्रव्य पर प्रयोग करते हैं। सजीव और निर्जीव वस्तुओं का व्यवहार एक-से नियमों के अनुसार नहीं होता है। सजीव वस्तु के साथ हम मनमाना व्यवहार नहीं कर सकते। उसकी रुचि का हमें पूरा ध्यान रखना पड़ेगा। जैसा कि कहा जाता है—कि घोड़े को तालाब पर ले जाना सरल है परन्तु उसे पानी पिलाना किसी की शक्ति में नहीं है। सजीव वस्तु के सामने हम उत्तेजना प्रकट कर सकते पर यह आवश्यक नहीं है कि उस उत्तेजना पर वह

व्यवहार करे ही। मुख्य बात तो यह है कि व्यवहार करने के लिए उसकी रुचि होनी चाहिए। व्यवहार का मुख्य कारण रुचि है। उत्तेजना तो उस रुचि के लिए मार्ग दिखाती है। केवल उत्तेजना ही का होना व्यवहार के लिए पर्याप्त नहीं है। सजीव वस्तु की विशेषता यह है कि वह व्यवहार में स्वतंत्र है। वह केवल बाहरी उत्तेजना का नौकर नहीं है। व्यवहार के लिए मन के भीतर से आज्ञा मिलती है। सजीव शरीर में आन्तरिक अभिप्राय होता है जो कि उसके व्यवहार का मुख्य कारण होता है। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि मनुष्य और अन्य जीवों में कौन कौन-सी भीतरी अभिप्राय या प्रेरणा है जिनके कारण वे व्यवहार करते हैं। सजीव के व्यवहार में स्वतन्त्रता होने का एक प्रमाण यह भी है कि एक ही व्यक्ति वही उत्तेजना अलग अलग समय पर उपस्थित होने से जुदे जुदे प्रकार का व्यवहार करता है। यह आवश्यक नहीं है कि एक उत्तेजना के लिए सदा ही एक प्रकार का व्यवहार हो। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि सजीव का व्यवहार स्वतन्त्र होने के कारण बिलकुल अनियमित है। अगर व्यवहार के लिए कोई शास्त्र और नियम न हो तो मनोविज्ञान का विज्ञान होने का दावा करना मिथ्या होगा। व्यवहार कुछ नियमानुसार अवश्य होता है पर यह नियम आत्मगत है।

(२) दूसरा प्रश्न यह है कि चेतना, जिसका कि पता व्यवहार से चलता है, क्या वस्तु है। मनोविज्ञान का मुख्य

कर्त्तव्य मनुष्य की मानसिक शक्तियो को मानसिक व्यवहार-द्वारा समझना है। भौतिक व्यवहार और भौतिक शक्तियो का जानना उसका मुख्य उद्देश्य नही है। इससे यह न समझना चाहिए कि मनोविज्ञानवेत्ता भौतिक अवस्थाओ पर ध्यान नही देता। परन्तु वह मनुष्य के जो कुछ भौतिक व्यवहार का प्रयोग करता है वह केवल उसके मानसिक व्यवहार के समझने के लिए। मानसिक और दैहिक व्यवहार का ठीक-ठीक सम्बन्ध क्या है इसका पूरा पता अभी तक नही चल सका। अभी यह एक समस्या ही है। यह केवल मान लिया गया है कि यदि किसी व्यवहार का मानसिक और दैहिक अङ्गो मे विश्लेषण किया जाय तो इन दोनो अङ्गो का सम्बन्ध यही है कि वे एक दूसरे के कारण नहीं है बल्कि एक दूसरे के समानान्तर चलते हैं। मानसिक और भौतिक का भेद बताना आवश्यक नही है। भौतिक अवस्थाएँ जैसे लम्बाई, चौडाई, गरमाई, ठण्डक, बढ़ना, घटना यह सब अलग अलग नापो से नापे जा सकते है। भौतिक वस्तु अन्तरिक्ष अथवा आकाश मे रक्खी जा सकती है। परन्तु मानसिक अवस्थाएँ जैसे विचार, रुचि, भाव इत्यादि का भौतिक की तरह नापना सम्भव नही है।

चेतना एक मानसिक स्थिति है। बहुतेरे विज्ञानवेत्ताओ ने इसे सावधानता कहा है। हम जब जागते रहते है और कभी सोते रहते है तब भी हममे चेतना रहती है। हमारे

मन मे कुछ न कुछ सोच-विचार होता ही रहता है। हममें और स्थूल में यह भेद है कि हमारे मन मे इच्छा, स्मरण, क्षोभ कुछ न कुछ चला ही करते है। स्टाउट (Stout) का यह कहना है कि केवल उस समय को छोड़कर जब कि हम निःस्वप्न निद्रा सोते रहते है सर्वदा हमारे मन मे कुछ न कुछ चेतना रहती ही है। जेम्स (James) ने इस चेतना की उपमा एक नदी से दी है। जैसे नदी का प्रवाह बराबर अनवच्छिन्न रूप से होता रहता है वैसे ही चेतना का भी। ऐसा नहीं होता कि मन में एक वृत्ति आ गई वह चली, फिर समाप्त हो गई, फिर मन शून्य रहा, और कुछ समय बीतने पर दूसरी वृत्ति आई। परन्तु एक वृत्ति के रहते ही उसमें कुछ परिवर्तन हो दूसरी वृत्ति बन जाती है। प्रवाह नदी की तरह लगातार चलता रहता है। हाँ, यह अवश्य है कि एक वृत्ति एक समय ध्यान के सामने रहती है और चेतना-प्रवाह का अन्य सब भाग कहीं गुप्त रहता है। थोड़ी देर में वृत्ति गुप्त स्थान से ध्यान में आ जाती है और ध्यानवाली वृत्ति खिसककर गुप्त स्थान में चली जाती है। जेम्स ने चेतना-प्रवाह के विषय में कुछ नियम नियुक्त किये है। वर्तमान काल मे वे सब माने जाते है या नहीं इस बात के समझाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ कुछ का वर्णन करना पर्याप्त होगा। एक लक्षण तो यह है कि चेतना की वृत्ति जो कुछ होगी वह किसी न किसी व्यक्ति की अवश्य होगी। ऐसा असम्भव है कि वृत्तियाँ मन से बाहर इधर-उधर मारी मारी फिरे। दूसरी

बात यह है कि सब प्राणियो की मनोवृत्तियाँ एक नहीं होती हैं। आपकी मनोवृत्तियाँ आपके मन मे है—मेरी मेरे मन मे। यह हो सकता है कि एक उत्तेजना होने के कारण मनोवृत्तियो मे कुछ समानता हो परन्तु वे पूर्ण रूप मे एक-सी नही हो सकतीं।

हमारे व्यवहार का रूप मुख्य रीति से हमारी चेतना ही पर निर्भर है। हम उन्हीं मनोवृत्तियो का रूप व्यवहार मे देखते है जो चेतना-प्रवाह मे आती है। प्राचीन काल मे यही समझा जाता था कि मनुष्य का व्यवहार केवल इस चेतना ही पर निर्भर है, परन्तु व्यवहार का पूर्ण विश्लेपण करने से अब ऐसा विदित होता है कि कुछ अचैतित वृत्तियाँ भी, जिनकी चेतना हमे बिलकुल नहीं होती, हमारे व्यवहार पर प्रभाव डालती है। फ्राएड (Frued) और यूग (Jung) ने स्वप्न, छाया इत्यादि का विश्लेपण किया है और उन्होंने अचैतित वृत्तियो के प्रभाव को बड़ा महत्त्व दिया है। इस मामले पर विज्ञानवेत्ताओ मे अभी बहुत कुछ मतभेद भी है।

(३) तीसरी बात जो जानने योग्य है वह है संस्थान का संक्षिप्त हाल। हमारे शरीर में कई संस्थान अथवा मडल है जो कि मशीन के भिन्न भिन्न अंगो के समान हमारे शरीर की वृद्धि के लिए पृथक् पृथक् काम करते हैं। वात-संस्थान वह संस्थान है जो कि हमारे प्रतिक्रियात्मक तथा [illegible] वा कृतपूर्व कार्यों को विधिवत् चलाता है। इसके

तीन मुख्य विभाग हैं—(१) वात-नाड़ियाँ (Nerves), (२) सुषुम्ना (Spinal cord), (३) मस्तिष्क (Brain)। वात-नाड़ियाँ मस्तिष्क तथा सुषुम्ना से शरीर के दूर-दूर के भागो को जाती हैं। वे पतले लम्बे रेशे अथवा तारों के समान होती है। बड़ी बड़ी नाड़ियो मे बहुत-से रेशो का एक बंडल होता है। हर नाड़ी के भीतर एक तार होता है जिसे एक्सन (Axon) कहते है। यह नाड़ी की पूरी लम्बाई में होता है। नाड़ियाँ शरीर में तार भेजने का काम करती है। नाड़ियाँ दो प्रकार की होती हैं। एक वह जो कि शरीर से सुषुम्ना तथा मस्तिष्क को खबर ले जाती है। इन्हे केन्द्रगामी (Afferent) नाड़ियाँ कहते हैं। दूसरी वह जो कि मस्तिष्क तथा सुषुम्ना से आज्ञा भेजती है कि शरीर के जिस अङ्ग से खबर आई है उसको क्या करना है। इन्हे केन्द्रत्यागी (Efferent) नाड़ियाँ कहते है। सुषुम्ना एक मोटी नाड़ी रूप की वस्तु है जो कशेरू की नली (Spinal canal) मे रहती है। रीढ़ की हड्डी जितनी लम्बी होती है उतनी ही उसके भीतर की नली। सुषुम्ना उसके भीतर नीचे के हिस्से में कमर तक और ऊपर के हिस्से मे मस्तिष्क तक फैली हुई होती है। यह कशेरू नाड़ी सफेद और भूरे रंग के मसाले से बनी होती है। सफेद मसाला बिलकुल शरीर की दूसरी नाड़ियों के समान दिखाई पड़ता है। भूरे मसाले मे भी नाड़ियाँ होती है पर उनमें वात-कोष्ठ (Nerve cells) होते हैं। वात-कोष्ठ अथवा वातसैल बनावट में मामूली सैल के

समान ही होती है यानी इनमे प्रोटोप्लाज़्म (Protoplasm) अथवा जीवनमूल होता है, और वीच मे चैतन्य केन्द्र (Nucleus) होता है। वातसैल मे विशेष वात यह होती है कि उसमे से एक निकला हुआ हिस्सा नाड़ी मे चला जाता है। नाड़ियो के वीच का डोरा, जिसे हम एक्सन कह चुके है सैल मे से निकली हुई लम्वी डोरी होती है। हर एक एक्सन को हम किसी न किसी सैल तक पहुँचता पा सकते हैं।

मस्तिष्क के चार भाग होते है—वृहत् मस्तिष्क (Cerebrum), लघुमस्तिष्क (Ceiebellum), सुपुम्नाशीर्पक (Medulla Oblongata) और सेतु (Pons)। सुपुम्नाशीर्षक सुपुम्ना का ऊपरी मोटा भाग समझना चाहिए जो कि सुपुम्ना को मस्तिष्क से मिलाता है। लघु मस्तिष्क उसके ऊपर के भाग को कहते है जो कि वृहत् मस्तिष्क के नीचे होता है। इसके वीच मे एक गहरी दरार होती है जो कि इसे दो दहिने और वाएँ भाग मे वॉटती है। इसका सारा धरातल खिंचा हुआ नहीं होता, उसमे वहुत-से परत रहते है। सेतु उन नाड़ी-सूत्रो से वना होता है जो कि लघु मस्तिष्क के दोनो भागो को मिलाते है। वृहत् मस्तिष्क मस्तिष्क का मुख्य और सवसे वड़ा भाग, होता है। यह वह वड़ा लोदा है जो कि सवसे ऊपर खोपड़ी के भीतर रक्खा रहता है। इसके भी दो विभाग हैं जो कि दाहने और वाएँ भाग कहलाते हैं। इसके सारे धरातल के [illegible] परत होते हैं। परतो के सिवाय सारे धरातल में

दरारे होती है। जैसे सुपुम्ना में सफेद और भूरे दो प्रकार के मसाले पाये जाते हैं वैसे ही मस्तिष्क में भी ये दो मसाले होते है। सुपुम्ना का भूरा मसाला मस्तिष्क तक फैलता हुआ पहुँच जाता है। सुषुम्ना-शीर्पक में भूरा मसाला सुषुम्ना से बहुत अधिक होता है। बृहत् मस्तिष्क का सारा धरातल भूरे मसाले से ढका हुआ रहता है—केवल ऊपर की सतह ही नहीं, बल्कि सारी दरारें और परत इससे ढके रहते है। यह कहना अनुचित न होगा कि मस्तिष्क के ऊपर एक वेष्टन (चादर) होता है। इस चादर को वल्क (Cortex) कहते है। इस भूरे मसाले यानी वल्क चादर पर सारे सैलूस बिछे रहते है और उनमें से निकले हुए पुच्छल्लो से मिलकर सैलूस का एक जाल-सा बन जाता है। मस्तिष्क का सबसे उच्च कार्य इन्हीं वात कोष्टो की आज्ञा से होता है। इन सैलूस की गणना करना कठिन है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मनुष्य के मस्तिष्क पर क़रीब करीब तीन अरब सैलूस होंगे। मस्तिष्क पर इतनी दरारे हैं कि अगर उस चादर वल्क को खोलकर फैलाया जावे तो उसका क्षेत्रफल बहुत बड़ा होगा। अधिक दरारें होने ही के कारण इतने अधिक सैलूस इसके ऊपर रहते है। जितना चतुर प्राणी होता है उतनी ही अधिक दरारे उसके मस्तिष्क पर होती है। बंदर और वनमानुष के मस्तिष्क पर बहुत कम दरारे होती हैं और मनुष्य की अपेक्षा उसके मस्तिष्क का

आकार भी छोटा होता है। सुअर के मस्तिष्क पर दरारे होतीं ही नही। मनुष्य का भेजा तौल मे प्राय. १½ सेर होता है।

अव हम वात सस्थान के कार्य पर विचार करेगे। सुषुम्ना का मुख्य कर्त्तव्य प्रतिक्रियात्मक काम (Reflex action) को नियंत्रण करना है। प्रतिक्रियात्मक काम के उदाहरण ये है—जव कोई गरम या ठंडी वस्तु हाथ से लगे तो हाथ को हटा लेना, जव पैर के तलुए पर गुदगुदी की जाय तव पैर को हटा लेना, जव कोई वस्तु ऑख की ओर फेकी जाय या कोई फेकने की चेष्टा करे तव पलको को वन्द कर लेना, खॉसना, निगलना इत्यादि। अव हम यह देखेगे कि यह प्रतिक्रियात्मक काम किस प्रकार वातमडल के आज्ञानुसार होते है। पहला उदाहरण लीजिए। इसमे पहली वात तो यह होती है कि हमारी खाल से गरमी या ठडक का समाचार एक केन्द्रगामी नाड़ी-द्वारा सुषुम्ना को पहुॅचता है। फिर वह संदेश सुषुम्ना के उस भाग मे पहुॅचता है। जिसे हम भूरा मसाला कह आये है। यही के नाड़ीकोष्ठ से कार्य करने की आज्ञा मिल सकती है। वहॉ से एक केन्द्रत्यागी नाड़ी के द्वारा पेशी (Muscle) को आज्ञा मिलती है कि तुम सिकुड़ जाओ। पेशी के सिकुड़ने से हाथ हट जाता है। यह आवश्यक नहीं कि हर एक प्रति-क्रियात्मक काम में हाथ पैर हटे अथवा चले। ऐसे भी प्रति-
ात्मक कार्य हो सकते है जिनमें इस प्रकार की गति

न हो, जैसे कोई स्वादिष्ट वस्तु के देखने से मुँह मे पानी भर आना अथवा क्रोध या गरमी के मारे मुँह लाल हो जाना।

जिन प्रतिक्रियात्मक कार्यों का उदाहरण हम दे आये हैं उन्हे प्राणी जन्म से करने लगता है—उनके सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु बहुत-सी क्रियाएँ ऐसी हैं जिन्हे हमें सीखना पड़ता है और सीख लेने के उपरान्त उन्हे हम उसी सुगमता से और बिना सोचे-विचारे वैसे ही कर सकते है जैसे कि प्रतिक्रियात्मक कार्यों को। नाचना, साइकिल चलाना, बुनना इत्यादि ऐसे कामो के उदाहरण है। साइकिल चलाते समय मनुष्य को पैर चलाने इत्यादि के लिए सोचना नहीं पड़ता। लड़कियो को बुनते समय सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे बुनने के साथ साथ बात कर सकती है और दूसरी बात पर ध्यान भी दे सकती है पर उनकी उँगलियाँ सुइयों को ठीक चलाती जाती हैं। हाँ, बाइसिकिल चलानेवाले के सामने कहीं पत्थर आ जाय या बुनने में लड़की को कहीं अटकना पड़ जाय तो बात दूसरी हो जायगी। ऐसी क्रियाओ को, जो सीखने के उपरान्त प्रतिक्रियात्मक रूप से होने लगती हैं, हम सीखी हुई या अर्जित प्रतिक्रिया (Acquired reflex) कहेंगे।

सुषुम्ना-शीर्षक, जो मस्तिष्क का ही भाग माना जाता है, कार्य की दृष्टि से सुषुम्ना के ही समान है। जो इसमें भूरा मसाला होता है उसे सुषुम्ना के भूरे मसाले का ही फैला हुआ भाग समझना चाहिए। इस कारण जो उस पर कोष्ट

होते हैं वे विशेष प्रतिक्रियाओ का नियन्त्रण करते है। आँखो के बन्द करने, चवाने, खाँसने और हृदय की गति का नियन्त्रण इन्ही से होता है।

लघु मस्तिष्क देखने मे बहुत बड़ा मालूम होता है और इसलिए उसका कार्य भी महान् होना चाहिए। सच बात तो यह है कि इसका पूरा पूरा कार्य क्या है इसे निश्चय रूप से विज्ञानवेत्ता अभी नहीं जान सके। परन्तु यह निश्चय अवश्य है कि इसका कार्य शरीर को साधना है। जब किसी मनुष्य के लघु मस्तिष्क पर फोड़ा इत्यादि हो जाता है तो ऐसा पाया गया है कि वह अपने शरीर को साधकर नहीं चल सकता बल्कि लड़-खड़ाने लगता है।

हम पहले कह आये है कि जितने उच्च कोटि के कर्तव्य मनुष्य करता है उनके लिए उसे बृहत् मस्तिष्क से आज्ञा मिलती है। देखना, सुनना, सूँघना, स्वाद का पता लगाना, बोलना, सोच-विचार करना इत्यादि ये सब बृहत् मस्तिष्क की आज्ञा से होते है। इन सबके वास्ते आज्ञा देने के लिए वल्क पर केन्द्र मौजूद है। बृहत् मस्तिष्क मे किसी प्रकार की त्रुटि होने से इन सब कार्यों में विघ्न और बाधा पड़ सकती है। वल्क के पृथक् पृथक् भाग पृथक् पृथक् कार्यों के लिए नियत है। आगे दिये हुए चित्र में मुख्य केन्द्र दिखाये गये हैं। वल्क का बहुत-सा भाग खाली छोड़ दिया गया है। उसमें किसी [illegible] का नाम नहीं लिखा। यह भाग कुल क्षेत्रफल का प्रायः

$\frac{2}{3}$ भाग है। इस पर कार्यों के नाम निश्चय रूप से नहीं बताये जा सकते। पर यह समझा जाता है कि यही वह स्थान है जहाँ से मनुष्य की सारी मानसिक कार्रवाई की जाती है। मनोविज्ञानवेत्ता इन्हे सहचार (Association) का स्थल कहते है।
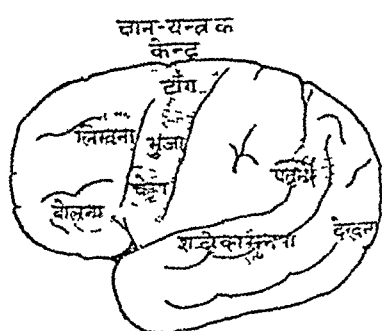
मस्तिष्क का कार्य समझने के लिए जानवरों के और बीमार मनुष्यों के मस्तिष्क पर प्रयोग किये गये है। इन प्रयोगो से बहुत-सी बातो का पता चला है। अगर वल्क के किसी भाग पर बिजली का प्रवाह पहुँचाया जाय तो शरीर के किसी न किसी अङ्ग में गति होगी। मान लो कि वल्क के उस भाग पर, जिस पर हमने 'भुजा' नाम लिखा है, बिजली का प्रवाह दौड़ाया जाय तो हाथ किसी प्रकार हिलेगा। अगर किसी प्रकार वह हाथवाला भाग मस्तिष्क की किसी बीमारी के कारण खराब हो जाय तो हाथ मे लकवा मार जायगा और मनुष्य हाथ होते हुए भी उसे हिला न सकेगा। अगर वल्क में बोलने के स्थान पर किसी प्रकार आघात हो जाय तो वह गूँगा हो जायगा। लिख सकेगा परन्तु बोल न सकेगा। एक विचित्र बात यह भी है कि मस्तिष्क के दाहिने भाग पर के केन्द्र पर कोई क्रिया की जाय तो उसका प्रभाव

दाहिने अङ्ग पर नहीं किन्तु बाये अङ्ग पर पड़ता है। बल्क के बाये भाग पर के हाथवाले स्थान पर खराबी होने से दाहिना हाथ काम न करेगा। मस्तिष्क की क्रिया को समझने से यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि शरीर का मुख्य कर्ता धर्ता मस्तिष्क है। हमारे आँखे है। पर आँखे नहीं देखतीं—देखता है मस्तिष्क। हम यह कह सकते है कि मस्तिष्क आँखो के द्वारा देखता है। यही दूसरे सब अङ्गो का हाल है। मस्तिष्क का स्वस्थ और नीरोग रहना बहुत आवश्यक है। ईश्वर ने इसी लिए उसे एक पुष्ट सन्दूक के भीतर रक्खा है।

बच्चो और बड़ो के वातमडल मे थोड़ा सा अन्तर है। मुख्य अन्तर उनके मस्तिष्क मे होता है। बच्चे का सिर कुल शरीर की तुलना मे सयाने पुरुप के सिर से बड़ा होता है। यदि केवल सिर का ही मुकाबिला किया जाय तो आदमी का सिर बच्चे के सिर से बडा निकलेगा परन्तु यदि शरीर के लिहाज से देखा जाय तो बच्चे का सिर बड़ा मानना होगा। यही हाल मस्तिष्क का है। बचपन मे मस्तिष्क बड़ी जल्दी बढ़ता है। पहले ९ महीने मे कुल वृद्धि का $\frac{१}{३}$ भाग बढ़ता है फिर दूसरा $\frac{१}{३}$ भाग ३ वर्ष की आयु तक बढ़ जाता है और बाकी ८ अथवा ९ वर्ष तक पूरा होता है। बच्चे के बढने के साथ मस्तिष्क केवल बडा ही नहीं होता किन्तु उसकी बनावट मे भी कुछ अन्तर पडता जाता है। वात कोष्ट की संख्या मे ~ नहीं होती। वे तो बचपन मे उतने ही रहते हैं

जितने बड़े होने पर। परन्तु बचपन में उनसे पुछल्ले बहुत थोड़े ही निकले होते है और एक कोष्ठ के पुछल्ले दूसरे से कम मिले रहते हैं। हम पहले कह आये हैं कि सेल से निकले पुछल्ले बहुत होते हैं और एक दूसरे से मिलकर एक जाल-सा बना देते हैं। जो कुछ बच्चा सीखता है—जैसे चलना, दौड़ना, बोलना—इन सबसे पुछल्लो में वृद्धि होती है। चाहे लिखने का हो, चाहे सोचने विचारने का हो, जो कुछ भी नया काम वह सीखता है उन सबसे मस्तिष्क पर के कोष्ठो के पुछल्लो की वृद्धि होती है और वे मिलकर अधिकाधिक जाल बनाते जाते है। मनुष्य को परमात्मा ने यह भारी शक्ति दी है कि क्रिया करने से उसके मस्तिष्क की करीब करीब इस प्रकार वृद्धि हो। बन्दर और मनुष्य के हाथो की बनावट एक-सी है। कुछ अन्तर अवश्य है परन्तु बहुत थोड़ा। मुख्य अन्तर इस बात में है कि मनुष्य बड़ा भारी खिलाड़ी बन सकता है पर बन्दर नहीं बन सकता, यद्यपि दोनों के हाथ प्रायः एक-से हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य के मस्तिष्क पर के कोष्ठों में से नये नये पुछल्ले निकल सकते हैं और एक दूसरे से मिलकर आपस में अनेक जाल बनाते हैं, किन्तु बन्दर के मस्तिष्क में यह नहीं हो सकता।

३—परम्परा और प्रतिवेश (सहवास)

III. Heredity and Environment

मनुष्य मे जो कुछ मानसिक और दैहिक शक्तियाँ हैं वे उसे परम्परा (वश-परम्परा या वीज-परम्परा) और प्रतिवेश से मिली है। अव हम इस वात पर विचार करेगे कि मनुष्य की इन शक्तियो के वनाने मे इन दोनो मे किसको कितना श्रेय है। अगर परम्परा को ही सव कुछ मान लिया जाय तो शिक्षा की कोई आवश्यकता जान ही नहीं पड़ती, और जो प्रतिवेश ही सव कुछ हो तो जिस व्यक्ति को हम जैसा चाहे वैसा ही वना सकते है। वास्तव मे, जैसा हम आगे चलकर देखेगे, मनुष्य की मानसिक तथा दैहिक वृद्धि मे इन दोनो वातो का भाग होता है और अध्यापक को दोनो पर पूरा ध्यान देने की आवश्यकता रहती है।

शिक्षा देने के लिए अध्यापक के सामने वालक उपस्थित किया जाता है। अध्यापक को यह जानने की आवश्यकता है कि वच्चे का मन कैसा है। उसकी शक्तियाँ क्या क्या है और उनका वह क्या क्या प्रयोग कर सकता है ? क्या वालक का मन एक शून्य पात्र के समान है जिसमे अध्यापक जो चाहे भर दे ? अथवा वह स्वच्छ श्यामपट्ट या सिलेट जैसा है जिस पर वह जो चाहे लिख दे ? क्या वच्चे का मन

बुरी प्रवृत्तियों से भरा है जिनका नियंत्रण न करने से बच्चा दुराचारी हो जायगा? अथवा वह इतना गुणसम्पन्न है कि अध्यापक को उसे प्रतिवेश मे जो बाते हैं उनसे दूर रखना चाहिए जिसमें वह बुरी बातो से बचा रहे?

जीवन-शास्त्र के विज्ञानवेत्ताओ ने इस मामले पर बहुत चिंतन किया है और इस बात के जानने के लिए कि परम्परा से हमे क्या मिलता है, उन्होने जानवरो और मनुष्यो पर बहुत-से प्रयोग किये है। उनका यह मत है कि हमारे पास जितनी मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ है वे हमे परम्परा से मिली है। मन इस संसार मे एक शून्य पात्र के समान नहीं उत्पन्न होता है। सब लोगो की शक्तियाँ एक-सी नहीं होती है। शिक्षा और प्रतिवेश का प्रभाव पड़ने से पहले ही यह निश्चय हो जाता है कि हमारी शक्ति कहाँ तक दौड़ सकती है। हाँ, यह अवश्य है कि प्रतिवेशरूपी संसार न हो तो हमारी शक्तियो के लिए प्रयोग करने को कोई अवसर ही न मिले। परम्परा से पाई हुई शक्तियो का विकास केवल प्रतिवेश में ही हो सकता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से परम्परा के दो नियम मुख्य माने जाते है। पहला तो यह है कि जैसे माँ-बाप होते है वैसी ही उनकी सन्तान उत्पन्न होती है। एक जाति के जानवर दूसरी जाति के बच्चे नहीं उत्पन्न नहीं कर सकते। इसके उपरान्त यह भी सत्य है कि लम्बे माँ-बाप के अधिकतर लम्बे बाल-बच्चे

होते है। कालो के काले, भूरे बालवालो के भूरे बालवाले इत्यादि इत्यादि। गाल्टन (Galton) और वैज़मेन (Weısmann) का यह अनुमान है कि उन सैल्स मे जो कि सन्तान उत्पत्ति के काम मे आते है कुछ अ ंश ऐसा होता है जो सन्तान के शरीर मे ज्यो का त्यो बना रहता है और जब वह सन्तान उत्पन्न करता है तब काम आता है। उसकी सन्तान मे वह ज्यो का त्यो फिर पहुँचा दिया जाता है और इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है।

परम्परा के पहले नियम के लिए हमें उदाहरण ढूँढने की कोई आवश्यकता नही है। किसी वश की वशावली पर ध्यान दे तो यह सिद्ध हो जायगा कि जैसे माता-पिता होते है वैसी ही सन्तान होती है। कार्ल पीयर्सन (Karl Pearson) ने वेजउड-डारविन—गाल्टन (Wedgewood—Darwın—Galton) नाम के प्रख्यात वश के १००० वर्ष तक के इतिहास की खोज की और उससे यह निष्कर्ष निकाला कि विज्ञानवेत्ताओ के इस वश के लोग ५ पीढी तक बराबर विज्ञान मे सदा ऊँची ऊँची पदवी पर पहुँचते रहे है। दूसरा कोई ऐसा वश नही जिसमें से इतने एफ० आर० एस० (F. R S) चुने गये हो जितने इस वंश से। इसी प्रकार जूक्स (Jukes) नाम का अमरीका मे एक वश है। विज्ञानवेत्ताओ ने इस वश के कई सौ वर्ष तक के इतिहास का पता लगाया है। डारविन वंश जैसा प्रतापशाली रहा है, जूक्स का [illegible]श वैसा ही लुच्चे और बदमाशो का वंश रहा है। यह वश

नीचों ही से आरम्भ हुआ, नीचो ही में उनके विवाह इत्यादि होते रहे और इसमें नीच ही उत्पन्न होते रहे।

परम्परा का यह नियम कि जैसे की सन्तान वैसी ही होती है इतना प्रत्यक्ष है कि इसके कोई अधिक प्रमाण की आवश्यकता नहीं। इसके जैसे उदाहरण ऊपर बतलाये गये हैं वैसे और भी मिल सकते है। एक बात देखने में और आती है। वह यह कि सन्तान और माँ-बाप के एक से होते हुए भी उनके बिलकुल समान होने मे कुछ कमी रह जाती है। दोनो बिलकुल एक-से नहीं होते। सगे भाइयो और बहनों में भी थोड़ा अन्तर होता है। कभी कभी अन्तर बहुत हो जाता है। साँवले माँ-बाप के गोरे रङ्ग की सन्तान हो जाती है या उनकी आँखों और बालो के रङ्ग मे बड़ा भेद दिखलाई देता है। ऐसे उदाहरण थोड़े ही है। परन्तु माता-पिता और उनकी सन्तान का बिलकुल एक सा न होना तो मामूली बात है। इसी बात पर सोच-विचार करके परम्परा का दूसरा नियम निकाला गया है। जैसी की तैसी सन्तान होते हुए भी कुछ अन्तर अवश्य होता है। यह भेद भी कुछ निर्धारित नियमो के अनुसार ही होता है। इस बात पर मेण्डल (Mendel) ने वहुत-से प्रयोग किये है। उसने लम्बे और नाटे मटर का गर्भाधान कराया और यह पता लगाया कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी में कितनी कितनी लम्बी और कितनी कितनी नाटी सन्तान उत्पन्न होती है। पहली पीढ़ी में मान लीजिए कुछ लम्बी हुई और कुछ नाटी। मेण्डल ने इन दोगले

लम्बे और नाटो को जुदा जुदा करके लम्बो में और नाटो मे अलग-अलग आपस में गर्भाधान कराया। ऐसा करने से उसे यह पता लगा कि दोगले लम्बे केवल लम्बी जाति ही नही उत्पन्न करते बल्कि कुछ लम्बी और कुछ नाटी जाति उत्पन्न करते है। २५ फी सैकड़ा तो लम्बी शुद्ध जाति के उत्पन्न होते है। शुद्ध से यह अर्थ समझना चाहिए कि वे आगे चलकर सदा लम्बे ही उत्पन्न करते है। २५ फी सैकड़ा शुद्ध नाटे उत्पन्न करते है। यह आगे चलकर केवल नाटे ही नाटे उत्पन्न करते है। ५० फी सैकड़ा मिश्रित लम्बे उत्पन्न करते है। मिश्रित का अर्थ यह है कि वे लम्बे होते हुए भी आगे चलकर अपने दोगले माँ-बाप की तरह कुछ लम्बे, कुछ नाटे और कुछ मिश्रित लम्बे उत्पन्न करते है। यदि दोगले नाटो का आपस मे गर्भाधान कराया जाय तो उनकी भी वंशवृद्धि इसी प्रकार चलेगी। जानवरो पर भी प्रयोग किये गये है और उनमे भी मटरो की तरह मेंडिलिजम (अर्थात् मेंडल के परम्परा-सम्बन्धी नियमो) का प्रभाव प्रतीत हुआ है। मेंडलिजम से हमे इस बात का कुछ पता चलता है कि सन्तान मे माँ-बाप से थोड़ा-बहुत भेद किस कारण हो जाता है। यह तो निश्चय है कि सब सन्तान का एक-सा होना अथवा सबका बिलकुल माता-पिता का-सा होना सम्भव नहीं है। परन्तु जो अन्तर होते है वे विज्ञान के नियमानुसार होते है—अनियमित या मनमाने नही होते। कौन-सा अन्तर किस कारण आया, इसका पता लगाने के लिए पहले की सारी पीढ़ियो का ज्ञान होना चाहिए।

उपरान्त ही विलायत से लाकर हिन्दुस्तानी में हिन्दुस्तानी सरक्षको के घर मे रख दिये जायँ। यदि १०, १५ वर्ष के उपरान्त दोनो जाति के बच्चो को देखा जाय तो पता लगेगा कि प्रतिवेश क्या करने की शक्ति रखता है। हिन्दुस्तानी बच्चे, जो कि विलायत मे पाले गये है, अपने देशी भाइयो से किन बातो मे मिलेगे और किन बातो मे पृथक् होगे। और इसी प्रकार अँगरेजी बच्चो का क्या हाल होगा, इस बात को जानने की पूर्ण रूप से चेष्टा करनी चाहिए। हिन्दुस्तानी बच्चे जैसे साँवले रङ्ग के होने चाहिए वैसे ही रहेगे। जितने लम्बे वा नाटे परंपरा के नियमानुसार होने चाहिए उतने ही होगे। परन्तु अंतर यह होगा कि वे अँगरेजी भाषा का प्रयोग अपनी मातृ-भाषा की तरह करेगे। हिन्दी का उन्हे एक शब्द न आवेगा। उनके आचार-विचार अँगरेज के-से होगे। जीवन को वे बिलकुल दूसरी दृष्टि से देखेगे। इसका कारण यही है कि प्रतिवेश ने उन पर प्रभाव डाला है। अब अगर मान लिया जाय कि वे जन्म भर विलायत ही मे रहे, पीढ़ी-दर-पीढ़ी वहीं बितावें, ब्याह-शादी उनके आपस ही में हो, परन्तु रहे वे वहीं—तो कुछ पीढ़ियाँ बीतने के बाद हम यह कह सकते है कि उनकी परंपरा अपने प्राचीन हिन्दुस्तानी भाइयो से बदल जायगी। यह परंपरा जो कि बदल गई है उस परपरा से जिसका कि हम ऊपर वर्णन कर आये है कुछ [illegible] है। परपरा को, जिससे मनुष्य की मानसिक

और दैहिक शक्तियाँ जन्म के साथ ही अपने माता-पिता के कोष्ठ से मिलती हैं और जिसे सिवाय ब्रह्मा के दूसरा कोई नहीं बदल सकता—उस परम्परा को हम बीज-परंपरा (Biological heredity) कहेंगे। इस पर शिक्षा का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। परन्तु वह परंपरा जिसका प्रभाव कि मनुष्य की मातृभाषा, आचार-विचार और उसके मनोविकास इत्यादि पर पड़ता है उसे हम सामाजिक परम्परा (Social heredity) कहेंगे। इस पर शिक्षा का पूरा प्रभाव पड़ता है। हर एक देश की और हर एक जाति की एक विशेष सामाजिक परम्परा होती है और शिक्षा का यह उद्देश्य होना चाहिए कि इस परम्परा का वह संचालन करे। वह उस सामाजिक परम्परा को बच्चों को प्रदान करे जिससे वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती चले। शिक्षा का उद्देश्य केवल यही नहीं होना चाहिए कि जो सामाजिक परम्परा हो उसे केवल चलाये ही चले बल्कि उसका संशोधन करे और उसकी उन्नति और वृद्धि का प्रयत्न करे।

—

४—प्राकृतिक शक्ति और अन्तःक्षोभ

IV. Instinct and Emotion

मनुष्य जो कुछ करता है अथवा सोचता है उसका मुख्य कारण उसकी प्रवृत्तियाँ होती है जो उसके मन को विशेष मार्ग पर ले जाती है। ये प्रवृत्तियाँ उसे जैसा रास्ता बतलाती है वह उसी पर चलता है। वह जिन शक्तियो के अधीन रहता है उनमे से कुछ तो प्राकृतिक होती है और कुछ अर्जित होती है जिन्हे वह अपने जीवन मे प्राप्त करता है। मनुष्य का चरित्र इन्हीं दो प्रकार की प्रवृत्तियो का बना होता है। यह देखने में आता है कि बालक जब पहले पहल बालवाले जानवर जैसे बिल्ली इत्यादि को देखता है, अथवा कोई घोर ध्वनि जैसे बिजली की कड़क सुनता है तो उसे भय लगता है और वह भागने की या अपने को छिपाने की चेष्टा करता है। ऐसा वह क्यो करता है? किसी ने उससे ऐसा व्यवहार करने को नहीं कहा। केवल उसके मन मे से ऐसा करने की उत्तेजना होती है। यह बात उसमे प्राकृतिक है। वह अपने को ऐसा करने से रोक नहीं सकता। डर से इस प्रकार

भागने या अपने को छिपाने की आन्तरिक प्रेरणा केवल मनुष्य ही में नहीं बल्कि जानवरो मे भी पाई जाती है।

अब बच्चे के अनुकरण करने की शक्ति पर ध्यान दीजिए। एक छोटे बच्चे के व्यवहार को देखिए। वह वैसे ही चलने का प्रयत्न करता है जैसे उसके बड़े चलते है। वह वैसे ही कपड़े पहनने का प्रयत्न करता है जैसे कि उसके साथी। बन्दर के लिए भी यह कहा जाता है कि वह बड़ा नक्काल जानवर है। बन्दर को या बच्चे को नकल करना कोई सिखाता नहीं। उनको ऐसा करने की प्रेरणा भीतर ही से होती है।

मनुष्य, गाय, गधा आदि के बच्चे जन्म होने के उपरात ही माता के स्तनो से दूध पीना आरम्भ कर देते है। अगर चुसकने की क्रिया को ध्यान से देखा जाय तो यह पता चलेगा कि वह बहुत सरल नहीं है। तो भी बिना सिखाये और बिना अभ्यास के बच्चा उसको एकदम करने लगता है। बच्चा ऐसा क्यो करता है? इसका कारण यही है कि भीतर से ऐसा करने की उसे प्रेरणा होती है। ऐसे हमको बहुत-से उदाहरण मिल सकते है जिनसे यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्य तथा बहुत-से जानवरो के बच्चे जो कुछ व्यवहार करते हैं वैसा करने के लिए परमात्मा ने उन्हे कुछ प्राकृतिक शक्तियाँ प्रदान की है। उसने मनुष्यो तथा जानवरो को ऐसी नैसर्गिक बुद्धि दी है जिसके कारण बिना सिखाये हुए वे उस प्रकार का व्यवहार करते है।

अब एक पाठशाला में पढ़नेवाले बालक के व्यवहार को देखिए। यह बालक जब अपने अध्यापक को मार्ग में मिलता है, उन्हे प्रणाम करता है और बड़ी नम्रता से बात करता है। कोई वस्तु जो उसे चाहिए, प्रार्थना करके बड़ो से माँगता है। छीनने नहीं दौड़ता। ऐसा व्यवहार वह क्यो करता है? माता के पेट से जन्म लेते ही वह यह व्यवहार न जानता था। वह नैसर्गिक बुद्धि के कारण ऐसा नहीं करता। यह उत्तम व्यवहार उसे सिखलाया गया है। हाँ, यह बात अवश्य है, और आगे चलकर और भी स्पष्ट हो जायगी कि उसने यह व्यवहार धीरे धीरे सीखा है, और उसके सिखानेवालो ने जानकर या न जानते हुए भी उसकी प्राकृतिक शक्तियो को काम मे लाकर उसको ऐसा व्यवहार, जो कि हम उत्तम समझते है, सिखाया है। आगे चलकर यह भी स्पष्ट होगा कि हमारा सारा चरित्र कुछ तो बिलकुल प्राकृतिक शक्तियो से और कुछ अर्जित अथवा ग्रहण की हुई शक्तियो से बना हुआ है। मनुष्य के व्यवहार में अर्जित शक्तियाँ ही मुख्य हो जाती है परन्तु इन सबकी जड़ प्राकृतिक शक्तियाँ ही होती है। इस बात को अध्यापक को स्पष्ट रीति से समझ लेना चाहिए कि चरित्र-रूपी सारी हवेली इन्हीं प्राकृतिक शक्तियो के ढाँचे पर बनती है। यही कारण है कि वर्तमान मनोविज्ञान मे प्राकृतिक शक्तियो का महत्त्व अधिक माना गया है।

मनुष्य का सारा चरित्र, उसका व्यक्तित्व और उसका सामाजिक व्यवहार केवल उसकी प्राकृतिक शक्तियो और उनके उचित विकास पर निर्भर है। हर एक व्यक्ति, व्यक्ति होते हुए भी, सामाजिक व्यक्ति है और उसकी प्राकृतिक शक्तियो का विकास उसी सहवास में होता रहता है, जिसमें वह प्राकृतिक शक्तियो पर शिक्षा और सहवास का प्रभाव पड़कर मनुष्य का चरित्र बन जाता है। शिक्षा का मुख्य कर्त्तव्य है कि वह बच्चे के चारो ओर ऐसा प्रतिवेश उपस्थित करे और ऐसे सहवास मे उसे रक्खे कि जिसमे प्राकृतिक शक्तियो का पूर्ण और शुद्ध रीति से विकास होने का अवसर मिले। इसलिए अध्यापक को दोनो बातो के जानने की आवश्यकता है। पहले तो यह कि मनुष्य की प्राकृतिक शक्तियाँ क्या है, और दूसरे यह कि वह सहवास जो कि उनके विकास के लिए उत्तम समझा जाय कैसा होना चाहिए।

मनुष्य की शक्तियाँ कौन कौन-सी हैं, और शिक्षा-सम्बन्ध मे किनका महत्त्व अधिक है, इस पर विचार करने से पहले हम यह सूक्ष्म रीति से देखेगे कि प्राकृतिक शक्ति क्या है और उसके मुख्य लक्षण क्या है।

प्राकृतिक शक्ति क्या है—इसकी निश्चय रूप से परिभाषा करना बहुत कठिन है। इस बारे में मनोविज्ञानवेत्ताओ में मतभेद भी है। वर्तमानकाल मे मेकडूगल (Macdougall), ड्रीवर (Drever), थोर्नडाइक (Thorndike) इत्यादि प्रसिद्ध

मनोविज्ञानवेत्ताओ ने इस बात पर वहुत कुछ सोच विचार किया है जिससे प्राकृतिक शक्ति के लक्षणो का वहुत कुछ पता चला है।

१—पहली वात जो कि कुछ ऊपर के उदाहरणो से विदित होती है और जिसके बारे मे सब सहमत है वह यह है कि हममे कुछ प्राकृतिक मनोवृत्तियॉ (चित्तवृत्तियॉ) है जिनके कारण हम किसी वस्तु को देखकर किसी विशेष प्रकार का व्यवहार करते है। यह मानसिक प्रवृत्तियॉ प्राकृतिक है। उनके कारण जिस प्रकार का व्यवहार हम करते है वह हमे कोई सिखाता नहीं है। उसे हम जन्म से ही जानते है और अवसर पाते ही उसे तुरन्त करने लगते है। ये प्रवृत्तियॉ परम्परा से चली आ रही है और हमारी वीजपरपरा का अ श है। जव उत्तेजना होती है तो हमे व्यवहार करते समय कुछ सोचना नही पड़ता और हमारा व्यवहार ऐसी सुगमता से होता है मानो हमे वर्षों से वैसा करने का अभ्यास है। हमारे वहुत-से सीखे हुए व्यवहार भी धीरे धीरे सुगमता से होने लगते है, जैसे कि टाइप करना या मोटर चलाना। परन्तु ये प्राकृतिक व्यवहार नही वन जाते। यह व्यवहार हम अपने जन्मकाल मे ही सीखते है और यहीं छोड़ देते है। वे वीजपरपरा के द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी नही चलाये जा सकते।

२—दूसरी वात यह है कि जितनी प्रवृत्तियॉ किसी जाति पाई जाती हैं वे उस जाति के सब व्यक्तियो मे होनी

आवश्यक है। एक प्रवृत्ति जो मनुष्य-जाति मे मिलती है वह सारे मनुष्यों में पाई जायगी। वह दूसरे जानवरो में पाई जावे या न पाई जावे, पर जितने मनुष्य है उन सबमें वह अवश्य ही होगी। अगर मनुष्य-जाति की यह प्राकृतिक प्रवृत्ति है कि वह डरावनी वस्तु देखकर अपने को छिपावे या भागे तो सारे मनुष्यो मे यह प्रवृत्ति मिलेगी। बहुत-सी प्रवृत्तियाँ ऐसी है जो मनुष्यो तथा अन्य जानवरो मे समान पाई जाती है, जैसे नर-मादा के परस्पर मिलने की इच्छा करना। हाँ, एक बात अवश्य है कि यद्यपि कोई मानुपिक प्रवृत्ति सब मनुष्यो में पाई जाती है तथापि यह हो सकता है कि हर मनुष्य में उसके विकास (प्रेरणा) का वेग एक-सा न हो। एक ही डरावनी वस्तु को देखकर ऐसा संभव है कि एक मनुष्य मे डर अधिक हो और दूसरे मे कम। दो व्यक्तियो मे मनुष्य होने के कारण नकल करने की प्रवृत्ति हो, पर हो सकता है कि दोनो की अनुकरण करने की आतुरता में फेर हो। कुछ अन्तर सहवास से पड़ता है परन्तु यह भी देखा गया है कि एक सहवास होते हुए भी यह भेद प्राकृतिक है। यह अन्तर कभी कभी लिंगभेद पर भी निर्भर होता है। कुछ प्रवृत्तियाँ पुरुषो में अधिक तीव्र होती है और कुछ स्त्रियो मे। बच्चे को प्यार करने की प्रवृत्ति मनुष्य-मात्र में होती है, परन्तु यह स्पष्ट है कि स्त्री में यह प्रवृत्ति पुरुष की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है। अपने को दूसरे के

सामने जताने की प्रवृत्ति पुरुष मे स्त्री के मुकाविले अधिक होती है।

३—तीसरी वात यह है कि यद्यपि ये प्रवृत्तियाँ हमको वीजपरंपरा से मिलती है और विना किसी के सिखाये हम उनके वल पर व्यवहार कर सकते है तथापि सव प्रवृत्तियाँ जन्म ही से प्रकट नहीं हो जातीं। इनका उदय समयानुसार होता है। वच्चा जन्मते ही माता के स्तनो से दूध चुसकने लगता है। चुसकना कोई उसे सिखलाता नहीं है। वच्चे की मनोवृत्ति ऐसा करने की होती है और वह ऐसा करता है। चुसकना वह इसी अवस्था से करने लगता है परन्तु वहुत-सी ऐसी प्राकृतिक शक्तियाँ है जिनका विकास वह जव तक कुछ वड़ा नहीं होता तव तक नहीं होने पाता। अनुकरण करने की चेष्टा वह कुछ वडे होने पर करने लगता है। अपने को दिखाने और झगड़ालूपन की प्रवृत्तियाँ थोड़े और वड़े होने पर प्रकट होती है। कामभाव प्राकृतिक है परन्तु उनका उदय तारुण्य अवस्था के समय तक नहीं होता। इस वात को जानना कि जुदी जुदी अवस्था पर जुदी जुदी प्रकृतियो का विकास होता है अध्यापक के लिए वड़ा आवश्यक है क्योकि वच्चे की प्रवृत्तियो पर सारा शिक्षा-शास्त्र निर्भर है। यह वात जाने विना कि किन प्रवृत्तियो का किस प्रकार उपयोग करना चाहिए जिससे वालक उत्तम और गुणवान् व्यक्ति वन सके अध्यापक काम कभी नहीं चला सकता। जिस अवस्था पर जिस

प्रवृत्ति का उदय होता है उसी समय उसका पूरा प्रयोग करना चाहिए। शिक्षा-प्रणाली को बालक की प्रवृत्तियों के विकास के अनुकूल बनाना होगा। यदि किसी प्रवृत्ति के उदयकाल में उसका उपयोग न किया गया तो समय बीत जाने पर उसका वेग घट जायगा और उस प्रवृत्ति के समयानुकूल उपयोग से जो लाभ बालक को होता उससे वह वंचित रह जायगा। जिस समय नकल करने की प्रवृत्ति तीव्र हो उस समय बालक को ऐसे सहवास मे रखना चाहिए कि उसे उत्तम आचार, उत्तम बोली, उत्तम व्यवहार के अनुकरण करने का अवसर मिले।

मेकडूगल ने प्राकृतिक शक्तियो की परिभाषा करते हुए कहा है कि परमात्मा ने मनुष्य और अन्य जीवो को एक नैसर्गिक बुद्धि दी है। मनुष्य के मन मे ऐसी प्रवृत्तियाँ परंपरा से दी है जिनके कारण जव वह किसी वस्तु को देखता है या उसके सम्मुख कोई उत्तेजना प्रकट होती है तो वह उस उत्तेजना से एक निश्चित और बँधे हुए व्यवहार को करता है। वह व्यवहार किसी को सिखाना नहीं पड़ता। वैसा व्यवहार करने की शक्ति उसमे प्राकृतिक होती है। मेकडूगल का यह भी कथन है कि उत्तेजना होने से उसके मन मे कुछ अंत.क्षोभ भी उत्पन्न होता है। यह अंत.क्षोभ भी व्यवहार की तरह बँधा हुआ है। हर प्रवृत्ति के लिए एक अंतःक्षोभ नियत है जो मन में प्रवृत्ति के साथ ही प्रकट हो जाता है। जेम्स ने तो इस अंतःक्षोभ पर बड़ा ज़ोर दिया है और अंतःक्षोभ की परिभाषा करके उसके

लक्षण बताये है। हर प्रवृत्ति के साथ एक अंतःक्षोभ बँधा हुआ है या नहीं—इसका निर्णय करना कठिन है। कुछ मनोविज्ञान-वेत्ताओ का कहना यह है कि ऐसा सर्वदा नहीं होता। बहुत-सी प्रवृत्तियाँ ऐसी होती है जिनके कारण व्यवहार करने में अ त.क्षोभ बिलकुल प्रकट नहीं होता—कम से कम प्रत्यक्ष तो नहीं होता। ड्रीवर का कथन यह है कि प्राकृतिक प्रवृत्ति के अनुसार व्यवहार करते समय प्राणी के मन मे अंत:क्षोभ अथवा मनोविकार का होना आवश्यक नहीं है। वे यह कहते है कि प्राकृतिक प्रवृत्तियो के कारण जो व्यवहार प्राणी करता है उसमें अ त प्रेरणा अवश्य होती है, अ त:क्षोभ नहीं होता। जब तक प्रेरणा पूर्ण होती जाती है, प्राणी को क्षोभ करने की आवश्यकता होती ही नही। किन्तु जब प्रेरणा के पूर्ण होने मे रुकावट होती है तब क्षोभ प्रकट होता है और जितनी विकट रुकावट होती है उतना ही घोर मनोविकार उत्पन्न होता है। जब किसी भयानक वस्तु को देखकर उससे बचने के लिए कोई व्यक्ति भागता है तो जब तक उसको बिना रुकावट के भागने को मिलता है तब तक उसको अपने को बचाने की अंत:प्रेरणा की पूर्ति होती जाती है। किन्तु जब वह भाग नहीं सकता, अथवा जब उसे छिपने को कोई स्थान नहीं मिलता, अथवा भागते भागते कोई और आपत्ति बीच मे आ जाती है तब उसकी अंत प्रेरणा पूरी न होने के कारण डररूपी अंत:क्षोभ बढ़ता है। जितनी ही कठिन रुकावट है उतना ही घोर अंत:क्षोभ भी होता है।

एक बात जानना और आवश्यक है कि इन प्राकृतिक प्रवृत्तियो का उद्देश्य क्या है। जैसा व्यवहार प्राणी करता है वैसा करने के लिए उसे ये क्यो प्रेरित करती हैं। जीवविज्ञान हमे यह बतलाता है कि प्राणी के जीवन के दो मुख्य उद्देश्य है। पहला स्वयं अपना निरीक्षण करना और अपने को जीवित रखना, और दूसरा अपनी जाति की वृद्धि करना और उसे जीवित रखने का प्रयत्न करना। जीवविज्ञान की दृष्टि से यह अवश्य सत्य है और निम्नश्रेणी के जानवरो के जीवन और व्यवहार को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके कुल कार्य इन्हीं उद्देश्यो को पूर्ण करने के लिए होते हैं। किन्तु मनुष्य का व्यवहार इतना सरल नहीं है। वह बहुत मिश्रित और पेचीदा है। और मनुष्य-जाति के सारे व्यवहारो को जीवविज्ञान के दो उद्देश्यो के अधीन समझ लेना मनुष्य-जाति को जानवरों के समान समझना होगा। फिर भी यह कहना असत्य न होगा कि ये उद्देश्य उसके सम्मुख रहते अवश्य हैं।* प्राकृतिक शक्तियाँ जो व्यवहार प्राणी से कराती है वह व्यवहार प्राणी के लिए लाभदायक ही होता है। वह व्यवहार सदा उसके और उसकी जाति के स्वार्थ की सिद्धि में

---

* प्राचीन हिन्दूशास्त्रकारो ने कहा भी है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

सहायता देता है। भागने का व्यवहार उसको भय के कारण से बचाता है। अनुकरण का व्यवहार उसकी स्वार्थवृद्धि करता है। काम के व्यवहार में उसके वश चलाने और उसकी जाति की वृद्धि का उद्देश्य छिपा हुआ है।

हम ऊपर कह आये है कि जब किसी प्रकार की उत्तेजना होती है तब वह प्राकृतिक प्रवृत्ति प्राणी से व्यवहार कराती है। यह उत्तेजना विशेष प्रकार की होनी चाहिए। यदि भागने व छिपने का व्यवहार प्रवृत्ति कराना चाहती है तो भयङ्कर वस्तु या डरावनी ध्वनिरूपी उत्तेजना होनी चाहिए। आरम्भ मे व्यवहार होने के लिए इसी प्रकार की उत्तेजना होनी चाहिए। आगे चलकर कम से कम मनुष्य में तो अवश्य, और कुछ कुछ अन्य जीवो मे भी, उस प्रारम्भिक उत्तेजना की आवश्यकता नहीं पडती। डरावनी वस्तु हो चाहे न हो, उसका केवल विचार ही व्यवहार कराने के लिए यथेष्ट उत्तेजना बन जाता है। यह बात भी जाननी आवश्यक है कि उत्तेजना और व्यवहार मे क्या सम्बन्ध है। जैसा हम ऊपर के उदाहरणो मे देख आये है, किसी व्यवहार के सम्पूर्ण होने में तीन बाते आवश्यक है। यथा :—उत्तेजना, आन्तरिक प्रेरणा, और व्यवहार। प्रतिक्रियात्मक काम मे केवल उत्तेजना और व्यवहार यही दो पाये जाते है। परन्तु प्राकृतिक व्यवहार यद्यपि बहुत कुछ प्रतिक्रियात्मक कार्य के समान सुगमता और ता से होना है और उसके करने में प्राणी को सोचना

भी नहीं पड़ता; तो भी उसमें उत्तेजना और व्यवहार ही से काम नहीं चलता। मुख्य बात उसमें आन्तरिक प्रेरणा है। व्यवहार का मुख्य कारण वही है। यह प्राकृतिक है कि परोसी थाली देखकर हमारी राल टपकने लगे और हम भोजन करने का व्यवहार करें। परन्तु हमारा भूखा होना मुख्य आवश्यकता है। केवल उत्तेजना होने से काम नहीं चलता। आन्तरिक प्रेरणा अवश्य होनी चाहिए। घोड़े को पानी के निकट ले जा सकते हैं, पर उसे पानी नहीं पिला सकते। शिक्षा-सम्बन्धी बातों में भी इसका ध्यान रखना आवश्यक है। अध्यापक को किसी उपाय से बालक की आन्तरिक रुचि को पकड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। तभी आगे काम चल सकता है और उससे इच्छानुसार व्यवहार कराया जा सकता है।

५—मनुष्य की मुख्य प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ

V. Chief Human Tendencies

प्राणी की सब प्राकृतिक प्रवृत्तियो का उल्लेख करने की यहाँ पर आवश्यकता नहीं। कुल कितनी प्रवृत्तियाँ है, उनके क्या क्या नाम होने चाहिए और वे कितनी जातियो में विभाजित हो सकती है—इन सब बातो पर मनोविज्ञान-वेत्ताओं मे मतभेद है। हम केवल उन्हीं प्रवृत्तियो पर विचार करेगे जिनका जानना अध्यापक के लिए आवश्यक और लाभदायक है।

व्यवहार ही से प्रवृत्ति का पता लगता है और व्यवहार ही के द्वारा उनका विकास होता है। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान मे रखनी आवश्यक है। मनुष्य का व्यवहार सरल नहीं किन्तु मिश्रित और पेचीदा होता है। किसी व्यवहार मे केवल एक ही प्रवृत्ति नहीं बल्कि दो-तीन प्रवृत्तियों का प्रयोग एक साथ होने लगता है। एक ओर डर खींचता है, दूसरी ओर घृणा, तीसरी ओर आश्चर्य और चौथी ओर झगड़ालूपन।

इस कारण जो व्यवहार केवल डर के कारण होता है उसका ७ चार प्रवृत्तियों के मिश्रण के होने से बदल जाता है।

(१) **भय से भागना और अपने को छिपाना** (Fear)—इसे लोग प्रायः डर ही कहते है परन्तु वास्तव में डर इस प्रवृत्ति के साथ जो अंतःक्षोभ होता है उसे कहना चाहिए। यह प्रवृत्ति प्राणी-मात्र मे होती है। ऐसा पाया गया है कि डर के मुख्य कारण ये है—घोर और कठोर शब्द होना, जैसे बिजली की गड़गड़ाहट, अन्धकार, चलते फिरते विचित्र जीव, बालवाले जानवर इत्यादि। वे सब वस्तुएँ जो हमे नुकसान पहुँचा सकती है डर उत्पन्न कर सकती है। डर की प्रवृत्ति के साथ परमात्मा ने निडरपन भी प्रदान किया है। अकसर व्यवहार के समय इन दोनो प्रवृत्तियो मे झगड़ा होने लगता है और दोनो में जो शक्तिशाली होती है, उसी की जीत होती है। इस प्रवृत्ति का मुख्य कारण केवल जन्म-जन्मातर के संस्कार हो सकते है। प्राचीन काल मे मनुष्य को अपनी रक्षा करने और क्षुधा-शान्ति करने के लिए बड़े बड़े जानवरो का शिकार करना पड़ता था। उसे खोह और कन्दरा में घुसकर जाना पड़ता होगा। सहचार के कारण मनुष्य में यह डर की प्रवृत्ति पुष्ट हो गई। अध्यापक को ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रवृत्ति को अधिक जगाने से सहचार के कारण बालक को हानि पहुँचती है। अगर किसी सर्प ने बालक को या उसके किसी मित्र को बचपन मे काटा हो तो सहचार होने से उसके मन मे सर्प की ओर से भय जम जायगा और वह बड़ा होने पर सर्प से बहुत डरेगा। बचपन में लड़को को

भूत-प्रेतो से डराना और हौआ कहकर चुप कराना अंत मे लाभदायक नहीं होता और बच्चे के मन मे वृथा के लिए डर जमा देता है।

अध्यापक के लिए डर की प्रवृत्ति उसके कार्य मे बहुत सहायता दे सकती है। डर के कारण हम सुगमता से बच्चे की बुरी मनोवृत्तियो को रोक सकते है और उन्हे उत्तम मार्ग मे लगा सकते है। बच्चे मे डर की प्रवृत्ति होने के कारण मारपीट और धमकाने को उसकी उन्नति के लिए उपयोग मे ला सकते है। जब बच्चा निडर हो जाता है तो धमकाने और मारने पीटने का प्रभाव उस पर बिलकुल नहीं पड़ता। अधिक मारने पीटने से कोई लाभ नहीं होता। शिक्षा का सिद्धान्त केवल यही नहीं होना चाहिए कि डर का प्रयोग करके काम निकाला जाय किन्तु यह भी हो कि वृथा का डर जो बच्चे के मन में होता है उसे दूर करने का प्रयत्न किया जाय। डर का प्रयोग तभी करना चाहिए जब दूसरे किसी प्रयोग से काम न चले।

डर से मिलती-जुलती हुई घृणा (Repulsion) की प्रवृत्ति है। हम घृणा के कारण भी किसी किसी वस्तु से अपने को दूर हटाने का प्रयत्न करते है। जिन वस्तुओ में चिपचिपा या गीलापन हो, या जो कुस्वाद अथवा दुर्गन्धित हो, वे ऐसी हैं जिनसे प्राणी दूर भागने का प्रयत्न करता है। यह भी हो सकता कि हमें कुछ ऐसे व्यक्ति मिलें जिनके आकार, जिनके विचार

जिनका सारा सहवास हममे घृणा उत्पन्न करे। प्रायः ऐसा होता है कि हम बचपन मे कुछ मनुष्यो के किस्से-कहानी पढ़ते हैं और किसी कारण से हमे उन मनुष्यो के लिए मन में घृणा उत्पन्न हो जाती है। वह जन्म भर मन में डटी रहती है। साहित्य और इतिहास के अध्यापको को बहुत ध्यान रखने की आवश्यकता है कि छोटे बच्चो को पढ़ाते समय महापुरुषों क बारे में ऐसी बाते न कहे जिनसे बच्चो के हृदय में घृणा उत्पन्न हो, नहीं तो वह सदा के लिए उनके चित्त में अङ्कित हो जायगी। हॉ, साथ में यह भी याद रखने की आवश्यकता है कि घृणा को अध्यापक काम में भी ला सकता है। उसे यह प्रयत्न करना चाहिए कि बुरी बातो के बारे मे बच्चे के हृदय में घृणा उत्पन्न करे जिससे वे अनुचित आचार-विचार और व्यवहार इत्यादि से बचे रहे।

(२) **झगड़ालूपन या अड़** (Pugnacity)—बच्चों में यह प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। यह प्रवृत्ति किसी बात पर भी प्रकट हो सकती है। यह बात अवश्य है कि दूसरी प्रवृत्तियो के प्रकट होते समय साथ साथ यह भी प्रकट हो जाती है। इसको जितनी रुकावट मिलती है यह उतनी ही अधिक तीव्र हो जाती है। बच्चे में झगड़ालूपन बुरा समझा जाता है और माता-पिता तथा अध्यापक डराकर बच्चे को दबाना चाहते हैं। बच्चे में इस प्रवृत्ति का होना बुरा न समझना चाहिए। झगड़ालू लड़के के तीव्र-बुद्धि और समझदार होने

की सम्भावना बहुत होती है। कहा जाता है कि जो बच्चे अपनी धाय को बडा तंग करते है वे बड़े होकर अच्छे निकलते है। जो बच्चे चुपचाप पड़े रहते है और गभीरता की मूर्ति होते हैं वे प्राय. मन्दबुद्धि होते है। इस प्रवृत्ति को अगर हम अच्छा समझते है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि बच्चे को मनमाना करने देना चाहिए। यह चाहिए कि इस प्रवृत्ति को अच्छे मार्ग मे लगाने का प्रयत्न किया जाय। जब ऐसा प्रतीत हो कि डर के प्रयोग से बच्चे को हानि पहुँचेगी तब इस प्रवृत्ति को डर के सम्मुख उपस्थित करना चाहिए। कोई कठिन काम कराने के लिए और बच्चे को उत्तेजना देने के लिए इस प्रवृत्ति का अध्यापक को प्रयोग करना चाहिए। जब कोई बुरी बात सामने हो अथवा कठिन समस्या उपस्थित हो तो बच्चे की इस प्रवृत्ति को जाग्रत कर देना चाहिए जिससे बालक साहसी हो जाय। बच्चो को दरजे मे जब किसी कठिन काम में लगाना हो या कोई कठिन प्रश्न हल कराना हो या कोई कठिन प्रयोग सिखाना हो तो साहस दिलाने के लिए इस प्रवृत्ति को जाग्रत करके बच्चो मे लगकर काम करने की आदत डलवानी चाहिए।

(३) कुतूहल अथवा जिज्ञासा (Curiosity)—हम जब कभी किसी नई वस्तु को देखते हैं तो उसके बारे में अधिक जानने का प्रयत्न करते हैं। हम उसके पास जाते है, उसे उलटते-पलटते है, खोलते है, उसका पूरा पूरा निरीक्षण करते है। जैसी वस्तु और जैसा अवसर होता है वैसा व्यवहार करते

है। हमारी यह इच्छा अवश्य होती है कि उसके बारे में कुछ और जानें। हमको साथ मे आश्चर्य भी होता है। देखने योग्य वस्तु होती है तो उसकी प्रशंसा भी करने लगते है। एक बात यह भी है कि यदि कोई वस्तु हमसे छिपाई जावे तो उसे देखने की उत्सुकता अधिक हो जाती है। ढकी वस्तु को देखने के लिए और उसके विषय में अधिक जानने के लिए हममें जितनी उत्सुकता होती है उतनी खुली हुई वस्तु के सम्बन्ध में नहीं होती।

यदि कोई अनजान वस्तु हमारे सामने आवे तो कुतूहल की प्रवृत्ति जाग्रत होती है परन्तु साथ में यह भी हो सकता है कि भय भी जाग्रत हो जाय। भय दूर खींचता है। कुतूहल की प्रवृत्ति पास लाती है। दोनो मे जो तीव्र होती है वही अपने अनुकूल व्यवहार करा लेती है। कभी ऐसा भी होता है कि एक बार वस्तु को देख उसकी ओर आकर्षण होता है, दूसरी बार देखकर डर लगता है, फिर आकर्षण होता है इत्यादि। बचपन मे प्रायः जानवरो को देख ऐसे ही भाव प्रकट होने लगते है। जब बालक जानने लगता है कि कौन-सा जानवर हानिकारक है और कौन-सा लाभदायक है तब वह उनके साथ एक प्रकार का बँधा हुआ व्यवहार करने लगता है।

कुतूहल अथवा जिज्ञासा की प्रवृत्ति बचपन में बहुत तीव्र रहती है। बड़े होने पर यह धीमी हो जाती है परन्तु बिलकुल कभी नहीं बुझती। बूढ़ो को भी बहुत कुछ जानने

की उत्सुकता रहती है। अध्यापक को चाहिए कि इस प्रवृत्ति का प्रयोग बच्चो को नई बात सिखाने में अवश्य करे। अगर बिना रुकावट के इसको चलने दिया जाय तो सम्भव है कि बालक किसी बात पर पूर्ण रीति से ध्यान न दें और अपना सारा समय एक वस्तु को उठाने और दूसरी वस्तु के देखने में ही व्यतीत कर डाले। परन्तु अगर बच्चे के व्यवहार का ठीक नियंत्रण और संगठन किया जाय तो इस प्रवृत्ति से बहुत कुछ लाभ हो सकता है। बालक को नये काम में लगाने के लिए अथवा किसी नये पाठ को आरम्भ करने के लिए अध्यापक इसका प्रयोग कर सकता है। प्रायः नई वस्तु के दिखाने और उस पर बात करने से बच्चो का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। बालक नवीन बात के जानने का प्रयत्न करता है। अध्यापक को बालक का ध्यान उन वस्तुओ की ओर लाने का विशेप प्रयत्न करना पड़ता है परन्तु बड़े होने पर स्वयं मनुष्य ध्यान देने लग जाता है। नई बातो को जानने की चेष्टा करता है। जिज्ञासा के ही बल से विज्ञान में बहुत कुछ उन्नति हो सकती है।

जीवित-जागृत वस्तुएँ, चलती-फिरती चीजे, भौतिक पदार्थ, मनुष्यो और जानवरो की कहानियाँ—ये सब बालको को आकर्पित करती है। उन्हे अमूर्त और प्रत्याहृत बातो मे आनन्द नहीं मिलता। बालको के सिखाने के लिए भौतिक स्तुओं का प्रयोग करना चाहिए। जो वस्तुएँ इन्द्रियो

को आकर्षित करे उनको काम मे लाना चाहिए। आज-कल पदार्थ-पाठ और दस्तकारी की शिक्षा पर जोर दिया जाता है क्योंकि बालक वस्तुओ को अपने हाथो से छूते है, उलटते-पलटते है, देखते-भालते है और इस प्रकार उनका निरीक्षण करते समय उनके बारे में बहुत कुछ सीख जाते है। जो बात इस प्रकार बालक सीखता है उसे वह शीघ्र नहीं भूलता। अध्यापक को यह जानना आवश्यक है कि वह पाठ मे जिन पदार्थों का समावेश करता है वे पदार्थ पाठ्य विषय और बालक दोनो के अनुकूल है या नहीं। यदि पाठ्य विषय या पाठ मे समावेशित वस्तुएँ इस सिद्धान्त के अनुकूल न होगी तो बालक को अधिकाधिक जानने की इच्छा न होगी और समय वृथा नष्ट होगा।

(४) विधायकता (Constructiveness)—किसी बालक को खेलते हुए देखा जाय तो यह मालूम होगा कि वह कभी खाली नहीं बैठता। कभी एक खिलौने को उठाता है; फिर उसे रख देता है। फिर दूसरे को उठाता है। उन्हे इधर से उधर रखता है। कभी उन्हे तोड़ता है और कभी मिलाने और जोड़ने की चेष्टा करता है। वह अपने खिलौने और वस्तुओ से कभी कुछ बनाता है और कभी कुछ। वास्तव में देखा जाय तो वह बड़ा इञ्जीनियर है। जिसे हम तोड़ना कहते है और बिगाड़ना समझते है उसकी दृष्टि में वह बनाने के ही बराबर है। हम सबमें बनाने-बिगाड़ने और तोड़ने-

फोड़ने की प्रवृत्ति है। हममे और बालक मे भेद यह है कि हम वस्तुओ की बनावट और उनके असली लक्षण से परिचित हो गये है और बालक अभी उनसे अपरिचित है। इन सब प्रयोगो से, जिन्हे हम लौकिक दृष्टि से नियम के विरुद्ध समझते है, बालक वस्तुओ से धीरे धीरे परिचित होता है और उनके लक्षणो को सीखता है। इसका अर्थ यह हुआ कि बच्चे को वस्तुओ के साथ उठाने, रखने, देखने, नापने, तोलने इत्यादि प्रयोगो के करने का जितना ही अधिक अवसर मिलेगा उतनी ही सुगमता से वह उनके लक्षणों से परिचित होगा। जिज्ञासा के बारे मे पदार्थ-पाठ और दस्तकारी का जो महत्त्व है उसे हम बता चुके हैं। शिक्षा मे विधायकता का भी बड़ा महत्त्व है। वस्तुओ और विचारो का ज्ञान जहाँ तक हो सके छोटे बालको को दस्तकारी और पदार्थ-पाठ-द्वारा कराना चाहिए। पुस्तक-द्वारा उन्हे उतना स्पष्ट ज्ञान नहीं दिया जा सकता। छोटे बच्चो को गिनती, अक्षर इत्यादि सिखाने के लिए किन्डरगारटन स्कूलो (Kindergarten Schools) में टुकड़ो और चौकोर, गोल इत्यादि वस्तुओ का उपयोग इसी आशय से किया जाता है।

जब बालकपन की तोड़-फोड़ समाप्त हो जाती है और बालक आठ या नौ वर्ष का होने आता है और वस्तुओं के लक्षण का ज्ञान होने लगता है तब उसमे नई वस्तुओ के बनाने की इच्छा उत्पन्न होती है। वह लकड़ी की छोटी छोटी चीजे, पत्थर

और लोहे की वस्तुएँ बनाने की चेष्टा करता है। ऐसे समय यदि मेकेनो (Meccano) जैसा खिलौना उसके हाथ लग जाता है तो वह उसमें मग्न हो जाता है। आगे चलकर यही बालक इंजीनियर या क्रियात्मक वैज्ञानिक बन सकता है।

(५) **स्वत्व या ममता** (Ownership)—"मै अरु मोर तोर तै माया। जेहि वश कीन्हे जीव निकाया"—के अनुसार प्राणी मात्र को 'मेरे' 'तेरे' का ज्ञान होता है। यह ज्ञान होते ही मनुष्य अपनी वस्तुओ का संचालन करने और उनकी वृद्धि करने का प्रयत्न करने लगता है। बच्चा अपने खिलौनो को प्यार करता है और खिलौनो को अपने पास एकत्रित करने का प्रयत्न करता है। सयाने होने पर कोई पुस्तक एकत्रित करते है, कोई रुपया एकत्रित करते है। अपनी वस्तुओ पर प्यार और अपनी बात का पक्षपात—यह प्राकृतिक प्रवृत्ति है यह सब मनुष्यो मे होती है, केवल थोड़े और अधिक का ही फेर है। यदि संसार की संपूर्ण संपदा पंचायती कर दी जाय तो शायद ही कोई जी-जान से परिश्रम करने की चेष्टा करेगा और शायद ही संसार मे कुछ उन्नति होगी।

संसार ज्यो ही बच्चे को आकर्पित करने लगता है और ज्यो ही उसे कुछ भी ज्ञान होने लगता है त्यो ही यह प्रवृत्ति प्रकट होने लगती है। बच्चा जहाँ डेढ़ दो वर्ष का हुआ वहीं उसे अपनी वस्तुओ पर अधिकाधिक प्रेम बढ़ने लगता है

वस्तुएँ एकत्रित करने मे वालक भूल भी कर सकता है या उसके पास लाभदायक वस्तुओ का संग्रह भी हो सकता है या वह अपना समय वृथा की चीजें एकत्रित करने में नष्ट कर दे सकता है। अध्यापक इस प्रवृत्ति का उपयोग करके विना विशेप प्रयास के वच्चो का ध्यान ऐसे कामो मे लगा सकता है जिनसे वह शिक्षा-संवधी वस्तुओ को एकत्रित कर सके। देश-देशान्तरो के टिकट एकत्रित करना, जिसमे वालको की वहुत रुचि होती है, भूगोल सीखने में सहायता देता है। कुछ वालको को इस ओर लगाया जा सकता है। ऐसे कार्य करने के लिए बालक के अवकाश के समय का उपयोग किया जा सकता है और वह बहुत बुरी बातो से दूर भी रक्खा जा सकता है। प्राकृतिक विज्ञान सिखाने मे वस्तुओ के एकत्रित करने से वहुत सहायता मिल सकती है।

विला रोक इस प्रवृत्ति को चलने देने से हानि भी हो सकती है। अधिक ममता होते होते मनुष्य की उदारता में कमी होने लगती है। इस कारण इसको एक हद से अधिक वढ़ने न देना चाहिए।

(६) अनुकरण, नक़ल (Imitation)—अनुकरण करना मनुष्य की एक मुख्य प्रवृत्तियो मे से है। कुछ जानवरो में विशेपकर वन्दरो में भी यह प्रवृत्ति होती है परन्तु मनुष्य जितनी किसी में नहीं होती। मनुष्य प्राणियो में सवसे वडा ी है। सहवास का प्रभाव इसी प्रवृत्ति के कारण सवसे

अधिक होता है। बालक अपने आस-पास की वस्तुओं को देखता है और उन्हीं का अनुकरण करता है। जैसा सब बोलते हैं वैसा वह बोलता है। जैसा सब पहनते हैं वैसा ही पहनने की वह भी चेष्टा करता है। जो कुछ भाषा हमने सीखी है, जो कला-कौशल हमने सीखा है, जो रीति-रिवाज हमने ग्रहण किये हैं और काम में लाते हैं, और जो कुछ व्यवहार की चाल-ढाल हमने अपनाई है वह सब अनुकरण के कारण। हमारी बोली हमारे कुटुम्बियों और हमारे अध्यापकों की-सी है। हमारा कपड़े पहनने का ढंग हमारे कुटुम्बियो और सहपाठियों का-सा है। इसका यही कारण है कि हम जिन व्यक्तियो में रहे हैं उनका हमने अनुकरण किया है और हम वैसे ही हो गये हैं।

मनोविज्ञानवेत्ताओं ने अनुकरण के कई भेद बताये हैं। कोई ४, कोइ ५, और कोई केवल दो ही प्रकार के अनुकरण मानते हैं। इसके कम से कम दो भेद तो एकदम समझ में आ जाते हैं। एक तो ऐच्छिक और दूसरा अचेतित। पहले प्रकार के अनुकरण में नक़ल करनेवाला व्यक्ति जान-बूझकर यह निश्चय करता है कि अनुकरण करना चाहिए। मान लीजिए कि अध्यापक बालक का उच्चारण ठीक करने के लिए शुद्ध उच्चारण उससे बार बार कहलाता है। बालक अध्यापक की आवाज़ सुनने के उपरात वैसी ही ध्वनि उत्पन्न करने का ऐच्छिक प्रयत्न करता है। यह पहले प्रकार का अनुकरण

हुआ। शारीरिक कसरतो के सीखने में हम इसी प्रकार का अनुकरण करते है। मनुष्य अचेतित अनुकरण करने का कोई ऐच्छिक प्रयत्न नहीं करता। वह अनुकरण करता रहता है परन्तु उसे इस बात की स्पष्ट चेतना नहीं होती कि वह नकल करता है। अचेतित अनुकरण के कारण हम बहुत कुछ बिना प्रयास के अनजान ही मे सीख जाते है। बालक किसी पाठ-शाला मे कुछ वर्ष पढ़ने के उपरात वहाँ के रंग मे रँग जाता है चाहे उसने जान-बूझकर वैसा करने का प्रयत्न किया हो या नहीं। अचेतित अनुकरण नशे की तरह धीरे धीरे असर करता है। एक दूसरी दृष्टि से अनुकरण के दो भेद और माने जा सकते है। एक तो वह कि जिसमे जो बात नकल करनी हो वह सामने हो रही हो अर्थात् अनुकरण करनेवाले व्यक्ति के सामने अनुकरणीय व्यवहार प्रत्यक्ष हो रहा हो, जैसे कि अध्या-पक कोई कसरत करके बता रहा हो और बालक उस प्रत्यक्ष का अनुकरण कर रहे हो। दूसरा यह हो सकता है कि वह व्यवहार जिसका अनुकरण करना है प्रत्यक्ष न हो किन्तु केवल उसका विचार व्यक्ति के सम्मुख हो। मान लिया जाय कि कसरत एक समय देखी हो अथवा पुस्तक में उसका पाठ पढ़ा हो और फिर किसी समय केवल उस विचार के बूते पर अनुकरण करने लगे तो यह दूसरे प्रकार का अनुकरण होगा।

शिक्षा-शास्त्र मे अनुकरण का महत्त्व बहुत है। बोली ... उच्चारण पर तो इसका प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है।

जैसा अध्यापक या किसी प्रांत के निवासी बोलते हैं वैसे ही वहाँ के बालक बोलने लगते है। अँगरेजी भाषा एक है। परन्तु गुजराती, बङ्गाली, मदरासी, पंजाबी सबो के बोलने का ढंग जुदा जुदा है। और सुनने बोलने मे भी सम्बन्ध है। बहिरे बच्चे बहुधा गूँगे भी होते है क्योकि सुन न सकने के कारण ध्वनि का अनुकरण करना उनके लिए सम्भव नहीं इसलिए वे गूँगे हो जाते हैं।

अनुकरण करने की चेष्टा बालकपन में अधिक तीव्र होती है। इस कारण अध्यापक और सहपाठियो की ही नकल बालक अधिक करते हैं। यदि अध्यापक गंदा रहता है, तो बालक भी साफ रहने का प्रयत्न नहीं करते। अध्यापक ठीक समय पर आता है और देर नहीं करता तो लड़के भी वैसा ही करते हैं। जैसे हस्ताक्षर अध्यापक के होते है वे भी वैसी ही लिपि लिखने का प्रयत्न करते है। अतएव अध्यापक के लिए यह आवश्यक है कि वह बालकों के सामने अपनी अच्छी आदतो और उत्तम आचार विचार और स्वभाव को उपस्थित करे और अपने को एक आदर्श बनाने का प्रयत्न करे।

अनुकरण से दो और प्रवृत्तियाँ, एक भली और दूसरी बुरी, उत्पन्न हो जाती है। इन्हे स्पर्धा और ईर्ष्या कहते है। दूसरे को देखकर वैसे ही करने की चेष्टा बालक मे होती है। अगर केवल साधारण अनुकरण हुआ तो कोई बात नहीं। परन्तु अनुकरण करते करते, धीरे धीरे यह इच्छा भी उत्पन्न होती है कि

दूसरे ने जैसा किया है वैसा ही या उससे उत्तम व्यवहार करके दिखाना चाहिए। अगर यह प्रवृत्ति सीधे रास्ते पर रही और अपने को अच्छा बनाने की इच्छा ही तक परिमित रही तो वह स्पर्धा कहलायेगी। और यदि स्वयं दूसरे के बराबर न पहुँचकर और अपनी उन्नति न पाकर मनुष्य दूसरे की अवनति चाहने लगता है तो वह ईर्ष्या का रूप धारण कर लेती है। अध्यापक को चाहिए कि दरजे में बालकों मे स्पर्धा तो अवश्य उत्पन्न होने दे किन्तु ईर्ष्या को रोकने का प्रयत्न करे।

(७) सहानुभूति (Sympathy)—हम जब किसी दूसरे को दुख मे देखते हैं तो सहानुभूति प्रकट करते है। परन्तु सब मनुष्यो मे सहानुभूति का वेग एक-सा नहीं होता। कोई कोई व्यक्ति दूसरे को दुख मे देखकर बहुत दुखी हो जाते हैं, रोने भी लगते हैं। दूसरे इतने विह्वल नहीं होते। कुछ ऐसे कठोरहृदय भी होते है जिन्हे देखकर ऐसा मालूम होता है कि उनके ऊपर दूसरे के दुखो का बिलकुल ही प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु मनुष्य-मात्र का हृदय थोड़ा या बहुत पिघलता अवश्य है। इस प्रवृत्ति के प्रकट होने के लिए कोई सोच-विचार की आवश्यकता नहीं होती। किसी मनुष्य मे दुख के लक्षण (आँसू निकालना या रोना इत्यादि) देखते ही यह प्रवृत्ति हममे उत्तेजित हो जाती है और हम उसके अंत.क्षोभ का अनुभव करने लगते है। सहानुभूति दु.ख और सुख दोनो समय मे [illegible]कती है। मेकडूगल ने जाति की दो सहानुभूति बतलाई

भी उनके साथ चलने लगते हैं और एक प्रथा बँध जाती है। यह काम जोर जवरदस्ती का नहीं। सहानुभूति जवरदस्ती से जाग्रत नहीं कराई जा सकती। जो अध्यापक बालक की मनोवृत्ति जानता है और यह समझता है कि विचार या समय अनुकूल है वही उनकी सहानुभूति जाग्रत कर सकता है।

(८) **खेल** (Play)—वर्तमानकाल की शिक्षा-प्रणाली मे खेल-कूद का महत्त्व अधिक माना जाता है। यह कहा जाता है कि पढाई इस प्रकार की जाय कि बालक खेल-कूद के द्वारा नई वाते सीखे। छोटे वालको को आकर्षित करने के लिए खेल खिलाकर उनको गिनती, अक्षर और वहुत कुछ सिखाया जाता है। वडे लड़को को भी नाटक खिलाकर इतिहास और साहित्य की शिक्षा देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

मनोविज्ञानवेत्ताओ ने यह निश्चय किया है कि प्राणि-मात्र मे खेलने की प्रवृत्ति होती है और अध्यापक को इसका प्रयोग करना चाहिए। खेल की एक पृथक् प्रवृत्ति है या वहुत-सी दूसरी प्रवृत्तियो का विकास खेल-द्वारा होता है—इसमे मतभेद है। अधिकतर मनोविज्ञानवेत्ताओ का यह विचार है कि यह पृथक् जाति की प्रवृत्ति नहीं गिनी जा सकती। वहुत-सी दूसरी प्रवृत्तियाँ जैसे अनुकरण, कुतूहल, विधायकता इत्यादि का वकास खेल-द्वारा होता है। इसलिए हम इसे मुख्य मौलिक ... मे नहीं गिनेगे।

खेल की प्रवृत्ति के बारे मे बहुत-सी कल्पनायें उपस्थित की गई हैं। शिलर (Schiller) का कहना यह है कि प्राणी में बहुत शक्ति है। यह शक्ति वह अपने जीवन के कार्यों में व्यय करता है। रेल के इंजन की तरह वह शक्ति को उत्पन्न भी करता है और उसे व्यय भी करता है। जीवित रहने के लिए जितनी शक्ति की आवश्यकता होती है उतनी शक्ति व्यय करने के उपरात जो शक्ति बच रहती है उसको प्राणी खेल के द्वारा निकालता है। स्टेनली हाल (Stanley Hall) का यह कथन है कि मनुष्य अपने मनुष्यत्व तक बढ़ने मे जितनी सीढ़ी चढ़ता है ये सीढ़ियाँ वे ही है जो कि उसकी नस्ल ने वर्तमान अवस्था मे आने के लिए पार की है। किसी समय में मनुष्य जङ्गली रहा है, दौड़ा धूपा है। उसने जानवरों का शिकार जङ्गली जानवरो की तरह किया है। बालक अपने बढ़ने में उन सब श्रेणियो को पार करता है। और बालक का खेल—शोर करना, दौड़ना, यह सब उसी के लक्षण है। मेलाब्रांश (Malebranche) ने एक दूसरी कल्पना उपस्थित की है परन्तु उसको कार्ल ग्रूस (Karl Groos) ने स्पष्ट रूप दिया है इसलिए वह उसी के नाम से प्रसिद्ध है। उनके कहने के अनुसार प्रकृति ने खेल की प्रवृत्ति इसलिए उत्पन्न की है जिससे बालक बचपन मे खेलकर अपने को मनुष्यत्व के कर्तव्यो के लिए तैयार कर ले। बिल्ली का बच्चा किसी टुकड़े या चिथड़े से खेलते समय उसे

फाड़ता है, उसे उछालता है और इस प्रकार उसके चारो ओर दौड़ता है मानो आगे चलकर जानवरो का जो उसे शिकार करना पड़ेगा इसके लिए अभ्यास कर रहा है। बालको के वे खेल जिनमे वह बड़ो का अनुकरण करने की चेष्टा करते है, जैसे झूठी लड़ाई लड़ना या गुड़ियो का खेल, यह सब उसी प्रकार की तैयारी के लक्षण है। इस संबंध मे और भी कल्पनायें उपस्थित की गई है जिनका उल्लेख यहाँ नही किया जा सकता। यहाँ केवल इतना कहना यथेष्ट है कि खेल के सम्बन्ध मे कार्ल ग्रूस की तैयारीवाली कल्पना अधिकाश विज्ञानवेत्ताओ को मान्य है।

खेलने और काम करने मे क्या अ तर है यह भी जानना आवश्यक है। किसी व्यवहार को हम खेलना या काम करना क्यो कहते है। लड़को के फुटबाल खेलने को हम खेलना कहते है परन्तु दरजे मे सवाल करना काम करना कहलाता है। खेल उस क्रिया को कहते है जिसका अभिप्राय उस क्रिया के होने ही मे पूर्ण हो जाता हो। काम करने मे प्राणी को तब प्रसन्नता होती है जब उसका अभिप्राय सिद्ध हो जाता है। किन्तु खेल मे वह उसे उस क्रिया के व्यापार में ही मिल जाती है। उसे कोई भविष्य के आनेवाले समय के लिए आशा लगाये नही बैठे रहना पड़ता है। काम में क्रिया होते समय अभिप्राय के पूर्ण होने की प्रसन्नता नहीं मिलती। अभिप्राय का पूर्ण होना उस क्रिया से बहुत आगे होनेवाला होता है। ऐसा भी होता है कि प्राणी

उसका अनुभव भी नहीं कर सकता। स्कूल के बालक खेलते हैं। खेलने की क्रिया में ही उनको प्रसन्नता प्राप्त होती है, वह उनके लिए खेल है। सवाल करने में सवाल करते समय प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती। सवाल करने से जो कुछ बात सीखेंगे वह परीक्षा मे काम आयेगी, परीक्षा मे उत्तीर्ण होने से जीवन के काम मे लाभ मिलेगा जिससे प्रसन्नता होगी। यह विचार सवाल करने की क्रिया करते समय प्रसन्नता नहीं देता। फुटबाल के खेल मे भी जब यही बात आ जाती है तब वह खेल नहीं बल्कि काम का रूप धारण कर लेता है। बहुत-से लोग फुटबाल या क्रिकेट अपनी जीविका कमाने के लिए खेलते हैं। खेलते समय उनको उस क्रिया मे वह प्रसन्नता नहीं मिलती जो कि स्कूल के बालक को प्राप्त होती है। इसी प्रकार गणित के पंडितो को ज्ञान होने के उपरात गणित के कठिन प्रश्न हल करने मे भी उसी समय आनन्द मिलता है और वह कठिन कार्य उनके लिए खेल का स्वरूप धारण कर लेता है। सक्षेप मे, खेल का उद्देश्य 'स्वान्त:सुखाय' से आगे कुछ नहीं है। काम के उद्देश्य जीविका का निर्वाह, दूसरो को प्रसन्न करना इत्यादि बहुत-से हो सकते हैं।

खेल के द्वारा या खेल-स्वरूप में यदि कठिन काम भी किया जायगा तो वह मनोरंजक होगा। बालकों का मन उसमे लगेगा। इसलिए जहा तक हो सके अध्यापक को शिक्षा देते समय यथासभव खेल-प्रणाली को काम मे लाना चाहिए।

इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि बालको को जुदी जुदी अवस्था में जुदे जुदे प्रकार के खेल आकर्षित करते है। छोटा बच्चा तो केवल हाथ-पैर चलाने, वस्तुओ को उठाने-रखने इत्यादि मे ही मग्न रहता है। वह इस व्यवहार के द्वारा वस्तुओ के लक्षणो का ज्ञान प्राप्त करता है। थोड़ा बड़ा होने के उपरात दौड़-धूपवाले खेल, जिनमे भागने, पीछा करने, लपकने, फेकने इत्यादि का प्रयोग होता है उसे रुचिकर प्रतीत होते है। इसी समय, नौ-दस वर्ष की आयु में, विधायकता के खेल उसे पसन्द आते है। साथ मिलकर खेलने की प्रवृत्ति भी जाग्रत हो जाती है। आगे बढ़कर उसे वह खेल जिनमे मानसिक प्रयत्न करना पड़ता है, जैसे शतरञ्ज इत्यादि, अच्छे लगते हैं। सरल मानसिक प्रयत्नवाले खेल, जैसे पहेली बूझना, छोटी अवस्था ही में आकर्षित करने लगते हैं। इस समय शब्दो का बनाना इत्यादि खेल ऐसे है जिनका प्रयोग किया जा सकता है।

— —

६—चरित्रगठन और व्यवसाय

VI. Character Formation and Will

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य का चरित्र बनाना है। किसी देश का शिक्षा-शास्त्र ऐसा नहीं है जो कि इस वात को अपने सामने किसी न किसी रूप में न रखता हो। वहुत-से देश और संस्थाएँ ऐसी है जो इस वात पर अधिक ध्यान नहीं देतीं कि बालक शिक्षा-विपय में कितना ज्ञान प्राप्त करता है किन्तु वे इस वात को मुख्य समझतीं हैं कि शिक्षा के द्वारा बालक को कहाँ तक सच्चरित्र बनाया जा सकता है।

हम पहले कह आये है कि कोई व्यक्ति इस संसार में उत्पन्न होते समय सच्चरित्र या दुश्चरित्र नहीं होता। उसका चरित्र इस संसार ही में रहते रहते वनता है। अगर सहवास अच्छा होता है तो उसका चरित्र उत्तम हो जाता है। नहीं तो वही व्यक्ति दुष्ट जन बन जाता है। चरित्र मानसिक शक्ति पर निर्भर नहीं है। यह संभव है कि एक मूर्ख व्यक्ति सच्चरित्र हो और बुद्धिमान् दुष्ट और कुटिल हो।

परपरा से कुछ प्रवृत्तियाँ लेकर मनुष्य संसार मे उत्पन्न होता है। इन प्रवृत्तियों का विकास परिस्थिति में होता है। यह हम देख चुके हैं कि प्रवृत्तियाँ बुरी और भली दोनों

दिशाओ में जा सकती है। यदि प्रवृत्तियो को किसी प्रकार की रोक-टोक न हो या उनको उचित मार्ग में न लगाया जावे तो संभव है कि वे उन दिशाओ मे, जो सामाजिक दृष्टि से अनुचित है, चली जावे। यदि किसी व्यक्ति की प्रवृत्तियो को विना लगाम स्वच्छन्दता के साथ विकसित होने का अवसर मिला है तो उस व्यक्ति के व्यवहार, उसका स्वभाव इत्यादि असामाजिक हो सकते है और होगे। यदि प्रवृत्तियो का विकास उन दिशाओ मे हुआ है जिनसे समाज की वृद्धि हो सकती है तो उस व्यक्ति का चरित्र बहुत उत्तम होगा। शिक्षा का उद्देश्य अगर सच्चरित्र व्यक्ति तैयार करना है तो शिक्षा-प्रणाली को इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि प्रवृत्तियो का विकास उन्हीं दिशाओ में हो जो कि समाज की दृष्टि से उत्तम और उचित है।

जानवर और मनुष्य से निम्न श्रेणी के अन्य प्राणियो का सारा व्यवहार केवल नैसर्गिक बुद्धि के वल पर होता है। उनके व्यवहार का संचालन और किसी प्रकार से नहीं होता। यद्यपि मनुष्य भी उन्हीं की तरह केवल प्राकृतिक प्रवृत्तियो को लेकर चलता है तथापि उसमे बहुत कुछ सीखने की शक्ति होती है। वह धीरे धीरे प्रवृत्तियो को अपने अधीन करके उनका इस प्रकार प्रयोग कर सकता है कि मनुष्य-समाज उसके व्यवहार को उचित समझने लगे। वास्तविक वात तो यह है कि मनुष्य का सरल से सरल व्यवहार मिश्रित और

पेचीदा होता है। तो भी आरंभ मे बालक के व्यवहार को जानवरो के नैसर्गिक बुद्धि-बल के व्यवहार के समान ही समझा जा सकता है। किन्तु थोड़े ही समय मे परिस्थिति और व्यवहार के कारण उसकी प्रवृत्तियो मे परिवर्तन होने लगता है। कोई एक प्रवृत्ति सरल रूप से उससे व्यवहार नहीं कराती बल्कि कई प्रवृत्तियाँ मिलकर मिश्रित प्रवृत्तियाँ बन जाती है और यही उसके व्यवहार का नियंत्रण करती है। धीरे धीरे उसके मन मे स्थायी भाव उत्पन्न हो जाते है। और इन्हीं सब स्थायी भावो के संगठन से मिलकर उसका चरित्र बनता है।

स्थायी भाव क्या हैं और कैसे बनते हैं

हममें से कदाचित् ही कोई ऐसा हो जिसके मन में कुछ वस्तुओ, प्राणियो अथवा कुछ सिद्धांतो के लिए विशेष प्रेम न हो। यह भी हो सकता है कि एक वस्तु के लिए एक व्यक्ति के मन मे दूसरे की अपेक्षा विशेष भाव हो। एक सज्जन को उस कमरे से, जिसमें उन्होने बचपन मे बरसो खेला है, विशेष प्रेम है। जिस पाठशाला मे वे लड़कपन में पढ़े थे उससे उन्हे विशेष प्रेम है। उनके मन मे दूसरे कमरो के लिए अथवा दूसरी पाठशालाओ के लिए उस प्रकार का भाव नहीं है। जब उस कमरे अथवा स्कूल का नाम वे कहीं सुनते हैं या कोई उनसे उनकी बात करता है तब उनके

मन मे एक विशेष अन्त.क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। दूसरे कमरे अथवा स्कूल के नाम पर वे उस प्रकार के किसी अन्त.क्षोभ का अनुभव नहीं करते। अगर कोई उनकी पाठशाला की बुराई करता है तो उनको क्रोध हो आता है और अगर प्रशसा करता है तो वे प्रसन्न होते है। दूसरे स्कूल के लिए उनके मन में कोई ऐसे अन्त क्षोभ उत्पन्न नहीं होते। प्रसन्नता का अन्तः-क्षोभ इस स्कूल के साथ सहचार मे आया है और धीरे धीरे उनके मन मे इस स्कूल के बारे में एक स्थायी भाव बन गया है। यह भी हो सकता है कि यदि किसी वस्तु के साथ, मान लीजिए किसी स्कूल के साथ, दुख का अन्त.क्षोभ सहचार मे आया हो (अगर वे वहाँ सदा दुखी रहे हो, फेल होते रहे हो, अध्यापको ने उन्हे बहुत मारा हो इत्यादि इत्यादि) तो वैसा ही स्थायी भाव उत्पन्न हो सकता है। उस स्कूल का नाम सुनकर उन्हे क्रोध आवेगा। जैसा अंत क्षोभिक अनुभव किसी वस्तु के बारे मे हमें होता है वैसा ही स्थायी भाव उसके लिए हमारे मन मे उत्पन्न हो जाता है।

स्थायी भाव केवल वस्तुओ के प्रति ही नहीं उत्पन्न होता किन्तु किसी भी व्यक्ति, विचार अथवा सिद्धान्त के बारे में उत्पन्न हो सकता है। माता-पिता मे अपने बच्चो के लिए, मनुष्य-मात्र मे अपने सम्बन्धियो और स्नेहियो के लिए स्थायी भाव होते हैं जिनके कारण उनके विचार और व्यवहार उन लोगो के प्रति एक विशेष प्रकार के हो जाते

है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति अपने व्यवहार में सत्य और न्याय का प्रयोग किया करे तो उसके चित्त में सत्य और न्याय के लिए भी स्थायी भाव उत्पन्न हो सकता है। किन्तु किसी गुण के लिए स्थायी भाव का होना एक बात है और उसका ज्ञान होना दूसरी। सत्य का ज्ञान होने से यह आवश्यक नहीं है कि व्यवहार भी सत्यतापूर्ण हो, परन्तु सत्य के लिए स्थायी भाव होने से व्यवहार अवश्य ही सत्यता-पूर्ण होना चाहिए। इसलिए शिक्षा के द्वारा स्थायी भाव का उत्पन्न करना ज्ञान प्रदान करने की अपेक्षा अधिक आव-श्यक है।

हमारे जीवन तथा सासारिक व्यवहार पर स्थायी भावों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। वे हमारे मानसिक व्यवहार के मूल है। वे हमारे अन्तःक्षोभो के संगठन से उत्पन्न होते हैं और स्थायी और स्थिर रूप धारण किये रहते है। हमारा व्यवहार उन्हीं पर निर्भर रहता है। शिक्षा-शास्त्र की दृष्टि से स्थायी भावो का महत्त्व अधिक है। अगर किसी व्यक्ति का मनोविकास इस प्रकार हुआ हो कि वह उन्हीं अन्तःक्षोभो का अनुभव करे जिन्हे हम उचित समझते है तो यह पूर्ण रीति से सम्भव है कि उसका व्यवहार सदाचारी होगा। शिक्षा का यह कर्तव्य है कि बालक में उन स्थायी भावो का संगठन करे कि जो सामाजिक दृष्टि से उचित समझे जाते है।

स्थायी भावों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है

किसी वस्तु, गुण अथवा सिद्धान्त के लिए स्थायी भाव तभी उत्पन्न हो सकते हैं जब दो बातें मौजूद हो। पहली तो यह कि उस वस्तु का मन में स्पष्ट बोध होना चाहिए कि वह क्या है और क्या नहीं है। दूसरी शर्त यह है कि उसके प्रति अन्तः-क्षोभो का संगठन हो गया हो। भौतिक वस्तुओ के लिए जो स्थायी भाव उत्पन्न होते है उनमे पहली शर्त किस प्रकार पूरी होती है यह समझना सरल है। इन्द्रियों-द्वारा हम जिन वस्तुओ का पूरा अनुभव कर सकते है हमें उनका बोध कर लेना कुछ भी कठिन नहीं है। जैसे, किसी पुस्तक, मनुष्य, घर या स्कूल का बोध कर लेना। बोध होने से यह तात्पर्य नहीं है कि हमे उक्त वस्तु का पूर्ण ज्ञान हो जाय। और न बोध करनेवाले के लिए उस वस्तु के सपूर्ण लक्षणो का जानना ही आवश्यक है। बालक को अपने माँ-बाप, अपने कपड़े, अपने घर का बड़ी जल्दी बोध हो जाता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह उनके बारे में सब कुछ जान ले।

परन्तु न्याय, सत्य इत्यादि भावो का बोध हो जाना सरल बात नहीं है। यह साकार वस्तुएँ तो है नहीं जिन्हे बालक देख सके, या जिनका बोध अपनी इन्द्रियो-द्वारा प्राप्त कर सके। न्याय का बोध होने के लिए इस बात को जानना पड़ता है कि एक कार्य न्यायानुकूल है और दूसरा कार्य न्यायविरुद्ध है। न्याय का बोध कराने के लिए उन सब व्यवहारो और

बातो का, जिनमें इस गुण का प्रयोग किया जाता है, बतलाने पड़ते हैं। जब तक न्याय का थोड़ा बहुत बोध न होगा तब तक उसके प्रति स्थायी भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। और बोध, जैसा हम ऊपर कह आये है, व्यवहार-द्वारा ही कराया जा सकता है। इस कारण किसी गुण के प्रति बालको मे स्थायी भाव उत्पन्न करने के लिए बहुत-से ऐसे काम कराये जाते है जिनसे उस गुण का बोध हो। कार्यों-द्वारा, कहानियो द्वारा, आदर्श-द्वारा और जो कुछ अध्यापक कर सकता है उन सबके द्वारा बालको को उसका बोध कराया जाता है। किन्तु इसमें अधिक समय लग जाता है। इन्हीं के कारण बालक की अवस्था बढ़ने पर उसमें इन गुणो के प्रति स्थायी भाव उत्पन्न हो जाते है। बोध होने के साथ ही साथ, जैसा हम कह चुके है, उस वस्तु के प्रति अंतःक्षोभो का प्रयोग भी होना चाहिए। जितने प्रसन्नता प्रकट करनेवाले अंतःक्षोभ है उनका उस वाञ्छनीय गुण के साथ सहचार होना चाहिए जिससे उस उत्तम गुण का स्थायी भाव उत्पन्न हो। जिस वस्तु अथवा दुर्गुण के लिए घृणा का भाव उत्पन्न कराना हो उसके लिए इसका विपरीत प्रयोग करना पड़ता है।

किसी देश की शिक्षा-प्रणाली ऐसी नहीं है जो देश-भक्ति का स्थायी भाव बालको मे उत्पन्न करने की चेष्टा न करती हो। यह भाव स्थायी रूप से एक दिन मे उत्पन्न नहीं हो सकता। बहुत-से विषयो-द्वारा और बहुत-से व्यवहारो-द्वारा, जो बालको

से कराये जाते है, यह भाव उनसे उत्पन्न कराया जाता है। भूगोल, इतिहास, साहित्य यह सब विषय ऐसे है जिनको सिखाते समय जब कोई अवसर ऐसा मिलता है जिससे यह भाव बच्चों मे दृढ़ हो सकता है तभी उसका प्रयोग किया जाता है। पहले तो देश कितना बड़ा है, कहाँ तक फैला है, उसमें एकता है आदि बातो का ज्ञान कराया जाता है। फिर देश में जो बलवान्, बुद्धिमान्, गुणवान् व्यक्ति हुए हैं उनका वृत्तान्त बालको को बताया जाता है और अपने देश के प्रति उनके मन मे उचित अंतःक्षोभो का संगठन कराया जाता है।

सफाई, सच्चाई, इत्यादि गुणो के लिए स्कूल के बालको में अध्यापक को स्थायी भाव उत्पन्न कराने चाहिए। जिस बालक मे सफाई के प्रति स्थायी भाव उत्पन्न हो गया है वह किसी कार्य को गंदी तरह नहीं करेगा। आदत की अपेक्षा स्थायी भाव अधिक दृढ़ और पुष्ट होता है। आदत तो केवल यंत्रवत् होती है और एक ही से व्यवहार मे काम में लाई जा सकती है। स्थायी भाव की उत्पत्ति अंतःक्षोभो के संगठन से होती है। इस कारण उस पर सदा भरोसा किया जा सकता है। मान लो कि किसी बालक को गणित के प्रश्न सफाई से लिखने की आदत पड़ गई है। सम्भव है कि वही बालक दूसरे कार्य करने मे उतना स्पष्ट और साफ न हो क्योंकि सफाई के बारे मे उसके मन मे कोई भाव तो है नहीं। उसको केवल गणित के प्रश्न सफाई से लिखने की यंत्रवत् आदत है।

परन्तु जिस बालक के मन में सफाई के प्रति स्थायी भाव है वह सदा हर एक काम सफाई से करेगा। उत्तम व्यवहार के कराने के लिए बालकों मे स्थायी भावो को उत्पन्न कराना परम आवश्यक है। उत्तम स्थायी भाव मनुष्य की वह मानसिक शक्तियाँ हैं जिनके बल पर वह सदा आचार-युक्त व्यवहार करता है।

हर एक देश के निवासियों के पास कुछ स्थायी भावों का संग्रह होता है। उस देश के प्रत्येक सच्चे नागरिको में उन स्थायी भावो का होना आवश्यक समझा जाता है। सम्भव है कि कुछ स्थायी भाव ऐसे हो जो कि एक देश की आचार-संहिता में उत्तम माने जाते हों और दूसरे में नहीं। यह भी देखा गया है कि जो भाव एक युग में संसार में आचारयुक्त समझे जाते हैं वे दूसरे युग में ठीक नहीं समझे जाते। समाजो और धर्मों पर भी भावो की उत्तमता निर्भर है। सती का रिवाज एक समाज मे वहुत उत्तम गिना जाता था किन्तु दूसरे समाज के लोग उसे आत्म-हत्या मानते थे। शान्ति के समय में मनुष्य का मारना वहुत बुरा समझा जाता है, किन्तु लड़ाई के समय दूसरे की जान लेना वीरता समझी जाती है। कौन से स्थायी भाव वालको में उत्पन्न किये जाने चाहिए—यह देश और समय के आचार और विचारो पर निर्भर है। परन्तु जो भी स्थायी भाव उत्तम समझे जायँ वे शिक्षा के द्वारा स्कूल के वालको मे उत्पन्न कराने चाहिए। आज-कल स्कूलो

मे राष्ट्रसंघ (League of Nations) के प्रति बालको में अनुकूल भाव उत्पन्न कराया जाता है जिससे बालक अपने जीवन को केवल राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही नहीं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी देख सके और जिससे संसार की शाति न भङ्ग होने पावे।

हम ऊपर जो कुछ कह आये है उससे यह स्पष्ट है कि ऐसे बहुत-से उत्तम स्थायी भाव है जो बालको मे उत्पन्न कराने चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य है कि उन स्थायी भावो की उत्पत्ति की ओर ध्यान दे। कौन-से भाव उत्तम है यह देश और समय का आचार-शास्त्र निश्चय कर सकता है।

अब हम एक ऐसे स्थायी भाव के बारे में विचार करेंगे जिसे वैज्ञानिको ने इन सब स्थायी भावो का राजा गिना है और जो मनुष्य के सब स्थायी भावो के सगठन से उत्पन्न होता है। यह मुख्य स्थायी भाव ही मनुष्य के चरित्र की आधार-शिला है। इसे **आत्मसम्मान का स्थायी भाव** कहते है।

बालक को 'स्वयं' का (अपने आपका) ज्ञान धीरे धीरे होता है। इसलिए इस भाव के उत्पन्न होने में समय लगता है। परन्तु सरल रूप से यह ज्ञान बाल्यावस्था ही से उत्पन्न होना आरम्भ हो जाता है। आत्मज्ञान के दो रूप है। एक तो इस बात का ज्ञान होना कि हममे विचार-शक्ति है और हम विचार कर सकते हैं। दूसरा यह कि जिन वस्तुओ इत्यादि के बारे मे हम विचार कर सकते हैं उनमें एक विचारने योग्य वस्तु

'स्व' भी है। जब इस बात का ज्ञान उत्पन्न होना आरम्भ होता है तब मनुष्य केवल दूसरो ही के व्यवहार, विचार इत्यादि की समालोचना नहीं करने लगता किन्तु अपने व्यवहार, आचार-विचार इत्यादि पर भी विचार करने लगता है। जब यह भाव उत्पन्न होता है तब उसे इस बात का ध्यान रहने लगता है कि वह कोई ऐसा व्यवहार न करे अथवा ऐसा विचार न प्रकट करे जिसे वह उत्तम नहीं समझता और जिससे उसके आत्म-सम्मान में धब्बा लग जाने का भय हो। थोड़े समय में व्यवहार करते करते आत्मसम्मान का भाव दृढ़ हो जाता है।

हम कह आये हैं कि बालक को पैदा होने के उपरात स्वयं का ज्ञान धीरे धीरे प्राप्त होता है। पहले वह अपने आपको अपनी परिस्थिति (वातावरण) से भिन्न नहीं समझता। किन्तु धीरे धीरे उसे इस बात का ज्ञान होने लगता है कि वास्तव में उसकी स्थिति स्वतन्त्र है और वह दूसरी अर्थात् परिस्थिति की वस्तुओ से पृथक् है। वह जो कुछ देखता और करता है उससे उसे अपने और दूसरे मनुष्यो और वस्तुओं के बीच भेद मालूम होने लगता है। वह सजीव और निर्जीव वस्तुओ के भेद का ज्ञान प्राप्त करता है। अपने को सजीव वस्तु ज्ञात करता है और यह समझने लगता है कि जैसे दूसरी जीवित वस्तुओ में ज्ञान और बुद्धि है वैसी ही उसमें भी है। इस बात का ज्ञान कि वह स्वयं विचार योग्य वस्तु है उसको तभी होता है जब वह मनुष्यो के व्यवहार का विश्लेषण कर सकता है। 'स्व' की

समालोचना 'पर' के व्यवहारो के विमर्श ही से उत्पन्न होती है। "मोहन ने सोहन के खिलौने को क्यो ले लिया, उसे विना पूछे ले लेना चाहिए था अथवा नही। मै मोहन की जगह होता तो ऐसा करता या नहीं। लोग इस वात को कैसा समझेगे"— इस प्रकार के भाव दूसरो के व्यवहारो के वारे में उसके मन मे उत्पन्न होने लगते है। धीरे धीरे वह अपने व्यवहारो पर विचार करता है और ऐसा करने से उसके मन में आत्मसम्मान का भाव वढ़ने लगता है। जो कुछ व्यवहार वालक स्वयं करता है अथवा जो कुछ उसके साथ किया जाता है उससे 'स्व' के प्रति अंत.क्षोभो का सगठन होना आरम्भ हो जाता है। दूसरे उसके साथ जो व्यवहार करते है उससे उसे यह पता लगता है कि उसका चरित्र किस प्रकार का है। उसे यह ज्ञात होता है कि उसमे क्या क्या गुण और अवगुण है। जिस प्रकार का स्वयं का भाव उसके मन मे दृढ़ हो जाता है वैसा ही व्यवहार भी वह करने लगता है। अध्यापक लोग वालक के आत्मसम्मान को उत्तेजित कर उससे सद्व्यवहार करा सकते हैं। जैसे हम अपने वारे मे मन मे यह विचार कर सकते है—"यह काम अच्छा नहीं है, हमे ऐसा न करना चाहिए। यह कार्य हमारे योग्य नहीं है, नीचा है।" इसी प्रकार वालक से भी कहा जा सकता है—"भाई, यह व्यवहार तुम्हारे योग्य नहीं है। ऐसा करने से तुम अपने को नीचे गिराते हो।" ऐसा कहने से उसका आत्मसम्मान जागृत हो उठता है और

वह सदाचारयुक्त व्यवहार करने लगता है। अध्यापक को इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यवहार हम बालक के साथ करते है और जो कुछ उससे कहते है उससे उसको 'स्व' का ज्ञान होता है और वह अपना चरित्र वैसा ही समझने लगता है। जो कुछ बालक के मन में उसके बारे मे दृढ़ कराया जाता है वह वही होने की चेष्टा भी करता है। जो बालक अपने को ईमानदार, सदाचारी, सत्यवादी समझता है वह अपना व्यवहार उसी प्रकार का बनाने की चेष्टा करता है। जब उसे यह बताया जाता है कि वह ठीक काम नहीं करता अथवा सत्य नहीं बोलता तब उसे लज्जा आती है और उसके मन पर असर पड़ता है। परन्तु अगर किसी बालक से प्रतिदिन यह कहा जाता है कि "तुम झूठे हो, तुम निकम्मे हो।" तो उसके मन मे वैसा ही विचार स्वयं के बारे मे दृढ़ हो जाता है। इस बालक को जब फिर यह ज्ञात कराया जाता है कि उसका व्यवहार उत्तम नही है तब उस पर कोई असर नहीं होता। क्योंकि स्वयं के सम्बन्ध मे उसकी यह धारणा कि वह झूठा और निकम्मा है उसके मन मे दृढ़ कर दी गई है। यही स्थिति दुराचारी बालको और मुजरिमों की हो जाती है। जिस बालक के मन में यह दृढ़ करा दिया गया है कि वह साधु है उसके सदाचारी बनने की संभावना उस दूसरे की अपेक्षा अधिक है कि जिसके मन में यह विश्वास दृढ़ हो गया है कि वह दुष्ट है। अध्यापक को यह चाहिए कि वह दिन प्रतिदिन और बार बार

किसी बालक को दुष्ट, गंदा, मूर्ख न कहे नहीं तो उस बालक के ठीक होने की कोई संभावना न रहेगी। अगर किसी बिगड़े व्यक्ति के चरित्र का सुधार करना हो तो यह आवश्यक है कि उसके मन मे जो स्वयं का दूषित भाव दृढ़ हो गया है उसे निकालकर उसके मन मे स्वय का दूसरा और अच्छा स्थायी भाव जमाया जाय।

मनुष्य के चरित्र और उसकी व्यवसायात्मिका बुद्धि में भी बड़ा सम्बन्ध है। जो मनुष्य संकल्प के साथ किसी कार्य-क्षेत्र मे उतरता है उसको सफलता अवश्य प्राप्त होती है। परन्तु जिसके मन में दृढ़ता और संकल्प नहीं होता वह बहुत धक्के खाता है। कहावत है कि परमात्मा उसी की सहायता करता है जिसमें व्यवसाय होता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से व्यवसाय क्या है और वह किस प्रकार मनुष्य के कर्त्तव्य पर प्रकाश डालता है इस बात पर हमें विचार करना चाहिए। व्यवसाय का अर्थ दो प्रकार समझा जाता है। व्यवसाय से कुछ लेखको का आशय उस शक्ति से है जिसके कारण मनुष्य बहुत समय तक किसी एक काम में अपने ध्यान को प्रयत्न करके प्रवृत्त रख सकता है। जो व्यक्ति लगातार आठ दस घण्टे तक किसी काम को एकाग्र चित्त से कर सकता है वह व्यवसायी पुरुष है। कुछ लेखक व्यवसाय से दूसरा आशय लेते है। वे इस बात को मुख्य नहीं समझते हैं। उनकी सम्मति से शारीरिक थकावट होते हुए भी किसी कार्य मे अधिक समय तक एकाग्रचित्तता रखना

ही व्यवसाय है। उनका आशय व्यवसाय से उस मानसिक शक्ति से है जिसके कारण मनुष्य किसी ऐसे कार्य को, जो रुचिमान् न जान पड़े, संकल्प करके कर सकता है। व्यवसायी बालक, जिसे मेले में जाना है और जिसे कुछ सवाल भी करने है, मेले मे जाने का आनन्द जानते हुए भी सवाल करने का कठिन कार्य पहले करना ठीक समझता है। सवाल करने के उपरांत वह मेले मे जाता है। मेले का आनन्द उसको सवालो मे एकाग्रचित्त होने से हटा नहीं सकता। इस दृष्टि से उस व्यक्ति को व्यवसायी कहेगे जो जान बूझकर उस कठिन मार्ग को चुने जिसमे वर्तमान रोचकता और मधुरता न हो। ऐसा व्यक्ति भविष्य को ध्यान मे रखता है और सहज किन्तु अस्थिर आनन्द देनेवाले मार्ग पर नहीं जाता।

इन दोनो अर्थों की व्याख्या पूर्ण रीति से करना आवश्यक है। अधिक समय तक रहनेवाली एकाग्रचित्तता आयु और अभ्यास पर निर्भर है। बच्चो मे वह पुरुषो की अपेक्षा कम होती है और वह अभ्यास से बढ़ाई जा सकती है। बालक में दृढ़ता और एकाग्र-चित्तता कम होती है। इस कारण उसका ध्यान बार बार उचट जाता है। बालक क्षण भर के लिए एक काम मे ध्यान देता है, फिर उससे भागता है और दूसरी ओर आकर्षित हो जाता है। अधिक अवस्था के मनुष्य में अधिक देर तक ध्यान देने की शक्ति होती है। स्कूल का समय-विभाग बनाते समय भी यह बात ध्यान में रक्खी जाती है कि छोटे बालकों को

अधिक देर तक एक विषय न पढ़ाया जावे। बालको को धीरे धीरे एक विषय पर अधिक देर तक ध्यान देने का अभ्यास कराया जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी काम मे यन्त्रवत् लगा रहे। इसको व्यवसाय नहीं कह सकते। स्कूल मे व्यवसाय की वृद्धि के लिए यन्त्रवत् अभ्यास कराने से कोई लाभ नहीं। यदि किसी काम मे, जैसे दो घण्टे लगातार पहाड़े रटाने मे, बालको को इस उद्देश्य से लगाया जाता है कि वे इस प्रकार के अभ्यास के कारण दूसरे अरुचिपूर्ण कामो मे भी चित्त लगा सकेंगे तो यह दुराशा है। किसी काम में एकाग्रचित्तता का होना उस काम मे रुचि से सम्बन्ध रखता है। यदि कोई कार्य रोचक बनाया जावे तो उसे करते करते धीरे-धीरे बालकों मे उस प्रकार का कार्य करने की केवल यन्त्रवत् आदत ही नहीं बल्कि एक स्थायी भाव उत्पन्न हो जायेगा जिसके कारण बालक वैसे कार्यों मे एकाग्रचित्त होकर लगे रहेगे।

जब हम 'व्यवसाय' से ऊपर बतलाया हुआ दूसरा अर्थ लेते हैं, अर्थात् किसी कठिन कार्य को सहज कार्य की अपेक्षा जान बूझ कर चुनना और उसको ध्यान से करना, तब हम यह स्वीकार करते हैं कि जो व्यक्ति यह कठिन मार्ग लेता है वह इस बात का ज्ञान रखता है कि दोनो मे उच्च कोटि का कार्य कौन-सा है। कठिन, परन्तु अन्त मे सुखमय मार्ग, वही पुरुष लेगा जिसमे अपने सम्मुख के कार्यक्रमो में से चुनकर उच्च उद्देश्य ले सकने की योग्यता है। उद्देश्यों की तुलना

कर सकना, ऊँचे और नीचे कार्यों मे भेद क्या है इस बात को समझना, यह शिक्षा से आता है। तुलना करके उचित मार्ग का चुनना तभी हो सकता है जब चुननेवाले व्यक्ति में उत्तम स्थायी भाव—विशेष कर वह स्थायी भाव जिसे हम सभों का राजा मानते है अर्थात् उचित आत्म-सम्मान का स्थायी भाव—उत्पन्न कर दिये गये हो। मनुष्य सदा दृढ़ रूप से उसी कार्य में तत्पर हो सकता है जो उसके स्व के भाव के अनुकूल हो। जो स्व का भाव दुष्टता है तो दुष्टता के कार्यों में दृढ़ता और एकाग्र-चित्तता आवेगी और अगर स्व का भाव साधुता है (जैसा कि उत्तम शिक्षा से होना चाहिए) तो सदाचारी कार्यों में एकाग्रचित्तता आवेगी। इस कारण व्यवसायात्मिका बुद्धि के उत्पन्न करने के लिए उत्तम आत्मसम्मान का स्थायी भाव उत्पन्न करना चाहिए।

७—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान और सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान

VII Sensation and Perception

हम विश्व का जो कुछ ज्ञान प्राप्त करते है वह विशेष करके इन्द्रियो-द्वारा ही प्राप्त होता है। संसार से हमारा सहवास भी पहले पहल इन्द्रियो ही द्वारा होता है। यह ज्ञान दो प्रकार का है—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान और सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान उतने ही ज्ञान को कहते हैं जो हम इन्द्रियो के द्वारा अनुभव करते समय प्राप्त करते हैं। जब इन्द्रियो-द्वारा प्राप्त हुए अनुभव का हम विवरण करते है और हमारे मन मे जो विचार अथवा अनुभव पहले से उपस्थित है उनकी सहायता से उस अनुभव को समझते है तब हम सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं। मनुष्य सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्राप्त करता है। शुद्ध निर्वि-कल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का वर्णन करना और उसका ठीक उदाहरण देना बड़ा कठिन है, कारण यह कि इस प्रकार का शुद्ध अनुभव बहुत कम हो सकता है। युवा पुरुष का तो कोई अनुभव ऐसा होता ही नहीं। बच्चे को अवश्य आरम्भ मे ऐसा अनुभव होता होगा। उदाहरणार्थ अगर

हम अपने उस समय के अनुभव को, जब हममे किसी कारण पूरी चेतनता न रही हो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान कह सकते है। मान लीजिए कि गिरकर या चोट खाकर हम बेहोश हो गये है और बेहोशी की दशा से फिर चेतनता की दशा मे आ रहे है। तो उस अर्धचैतन्य अवस्था मे जो वस्तुएँ हमारे चारो ओर है—कुर्सी, मेज़, मनुष्य, पेड़, मकान इत्यादि—उनका अनुभव जो हमें होता है उसे हम निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान के समान कह सकते है। ऐसी दशा मे वस्तुओ के शुद्ध आकार का हमें पता नहीं चलता। कौन-सा मनुष्य सामने है इसकी पहिचान नहीं होती। पेड़ नीम है या पीपल, या पेड़ ही है और कुछ नहीं है, इसका पूरा ज्ञान नहीं होने पाता। केवल आँखो के सामने कुछ धुँधली वस्तु दिखाई देती है। अनुभव सविकल्पक नहीं होने पाता। जब प्रत्यक्ष दिखाई देती हुई वस्तु का विवरण होने लगता है तब सविकल्पक ज्ञान प्राप्त होता है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान पुराने अनुभवो के आधार पर बनता है। हम किसी एक वस्तु के बारे में सभी इन्द्रियो-द्वारा कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करते है। कलम को ही ले लीजिए। उसे हमने देखा है, हाथ मे लिया है, उससे लिखा है इत्यादि इत्यादि। तो उसके बारे में जो यह सब अनुभव हमे हुए है उन्हे हम बिलकुल नहीं भूल जाते। इनका कुछ न कुछ अंश हमारे मस्तिष्क मे रह ही जाता है। किसी वस्तु के बारे में इन्द्रियों-द्वारा जितने

अधिक अनुभव हमे हुए होते है उतना ही अधिक ज्ञान हमें उसके बारे में होता है। जब कोई वस्तु हमारे सम्मुख आती है तब हमारे मन में उसके सम्बन्ध के जो पुराने अनुभव उपस्थित होते है उनके आधार पर हम उसका विवरण करते हैं। जितने कम अनुभव हमारे मन मे होगे उतना ही कम विवेचन हम कर सकेंगे और जितने अधिक अनुभव उपस्थित होगे उतना ही अधिक। इसी कारण बालक की अपेक्षा युवा पुरुष का सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान अधिक सम्पूर्ण होता है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान होने के लिए निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का होना आवश्यक है क्योंकि वही तो मार्ग है जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। उसी ज्ञान को लेकर मन उसका विवरण करने लगता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए परमात्मा ने हमे कुछ आले दिये हैं। उन्हीं के द्वारा हमारे मस्तिष्क मे असर पहुँचता है। हर एक आले की बना-वट मिश्रित और पेचीदा होती है। प्रकृति ने इस बात का पूरा प्रबन्ध रक्खा है कि प्रत्येक आला अपना काम बड़ी सुगमता से कर सके। अगर आँख या कान की बनावट को खोलकर देखा जाय तो प्रकृति की महत्ता का अनुभव हो सकता है। यह दैहिक आले उन्हीं सब आलो के समान है जिनका प्रयोग विज्ञान की क्रियाओ मे किया जाता है। परन्तु ये दैहिक आले मस्तिष्क से स्नायुओ-द्वारा मिले रहते है और जो कुछ असर इन पर पड़ता है वह स्नायुओ-द्वारा मस्तिष्क मे पहुँचता है।

निर्विकल्पक ज्ञान मस्तिष्क मे प्राप्त होता है। हम अपनी आँखों से देखते है परन्तु आँख केवल एक आला है जिसके द्वारा ज्योति का असर हमारे मस्तिष्क मे पहुँचता है। वास्तव मे देखने का काम हमारा मस्तिष्क करता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियो रूपी द्वार से मस्तिष्क अनुभव करता है और निर्विकल्पक ज्ञान प्राप्त करता है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि आले अर्थात् इन्द्रियाँ कोई मुख्य काम नहीं करते। इन्द्रियो का महत्त्व तभी अनुभव किया जा सकता है जब कोई इन्द्रिय दूपित हो जाती है। एक इन्द्रिय के दूषित होते ही अनुभव और ज्ञान प्राप्त करने का एक द्वार तुरन्त बन्द हो जाता है और उस ओर से संसार अन्धकारमय हो जाता है। मस्तिष्क मे भी दोप होने से वही आपत्ति उत्पन्न हो जाती है। ज्ञान प्राप्त होने के लिए इन दोनो अङ्गो का कार्यक्रम ठीक चलना चाहिए।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान ठीक हुए विना सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान कभी ठीक नही होगा। सविकल्पक ज्ञान कहाँ तक होगा वह उन सव भावो और अनुभवो पर निर्भर है जो हमारे मन मे उपस्थित है। जितने अधिक विचार हम काम मे ला सकेंगे उतना ही अधिक सविकल्पक ज्ञान प्राप्त होगा। हम यह कह चुके है कि सविकल्पक ज्ञान होने मे निर्विकल्पक का विवरण होता है। परन्तु जिस समय सविकल्पक ज्ञान होता है उस समय हम उन सव अनुभवो का, जिनकी सहायता

से हम निर्विकल्पक का विवरण कर सकते हैं, पुनरनुभव नहीं करते। हमे वस्तुओ का अखिल ज्ञान होता है, किन्तु जब हम उनकी व्याख्या करने बैठते है केवल तभी उनके सब भागो को पृथक् बता सकते है। हमारा अखिल ज्ञान अन्तर्गत रहता है, परन्तु इच्छा करने पर हम उसके प्रत्येक भाग को स्पष्ट करके फैला सकते है।

उदाहरणार्थ मान लीजिए कि आपके सामने कटोरा भर-कर दूध रक्खा हुआ है। जो वस्तु (दूध का कटोरा) आपके सामने रक्खा है उसे देखते ही आप यह सविकल्पक ज्ञान प्राप्त कर लेते है कि वह दूध का कटोरा है। आपने केवल उस वस्तु को देखा है। आँख से पूरा अनुभव किया है परन्तु जो ज्ञान उस वस्तु के बारे मे, अर्थात् उसका दूध का कटोरा होना, आपने प्राप्त किया उसमें बहुत-सी बाते अन्तर्भूत है जिनका अनुभव आपने उस समय दृष्टि-द्वारा नहीं किया। उन सब बातो को काम में लाकर और विवरण करके मन ने तुरन्त निश्चय कर दिया कि वह दूध का कटोरा है। आप ये दूसरी बाते [दूध का पानी रूप होना, श्वेत रङ्ग होना, कटोरे का कड़ा होना, दूध में और दूसरे द्रव पदार्थों मे अन्तर होना, इस शक्ल की वस्तु का कटोरा होना इत्यादि] इन्द्रियो-द्वारा पहले अनुभव कर चुके है और ये सब बातें आपके मन मे उपस्थित है। आपके मन ने इनका प्रयोग किया और निश्चय किया कि वह दूध भरा कटोरा है। जब उसे

देखते ही एक-दम आप दूध का कटोरा कह देते है तो आपके मन में उस वस्तु का अखिल ज्ञान जो कि अंतर्गत होता है स्पष्ट हो जाता है। वह सब अनुभव जिनके कारण यह निश्चय होता है कि यह दूध का कटोरा है उस अखिल ज्ञान में अन्तर्भूत रहते हैं। जब आपसे व्याख्या करने को कहा जाता है तब आप उन सब लक्षणों और अनुभवो का वर्णन कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

मनुष्य ज्यो ज्यो सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता जाता है त्यो त्यो वह अपनी परिस्थिति को अधिक समझता जाता है। वह वस्तुओ को पहचानने लगता है और एक वस्तु का दूसरे से भेद भी करने लगता है। बालक अपने माता-पिता को पहचानने लगता है। जानवरो को एकदम देखकर बता सकता है। कुत्ते को बिल्ली से पृथक् जानवर मानता है। अपने पिता और दूसरे पुरुषो में अन्तर जानता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि इन सब वस्तुओ के बारे में, जिन्हे वह पहचान लेता है, वह सब कुछ जानता हो। अगर उससे उनकी व्याख्या करने को कहा जाय तो वह न कर सकेगा। कुत्ते को वह पहचानता है—परन्तु यदि उससे कुत्ते की परिभाषा करने को कहा जाय तो वह न कर सकेगा। वह कुत्ते के सब लक्षणो को स्पष्ट रीति से नहीं जानता। वह धीरे धीरे लक्षणों का भी ज्ञान प्राप्त करता है। उसके मन में कुत्ते के बारे में जो लक्षण जानने चाहिए उनका समूह एकत्रित

हो जाता है। जब किसी वस्तु के बारे मे मन मे भावो की सम्पन्नता हो जाती है तब उस वस्तु के बारे मे पूर्ण ज्ञान हो जाता है। किसी वस्तु के इस सम्पूर्ण ज्ञान को सामान्य प्रत्यय कहते है। यह शब्द विशेप कर प्रत्याहृत भावो के लिए प्रयोग किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति 'सत्य' क्या है इसे पूर्ण रीति से जानता है और उसकी परिभापा कर सकता है तो हम कहेगे कि उसके मन मे 'सत्य' शब्द का सामान्य प्रत्यय है। 'कुत्ता' शब्द का भी सामान्य प्रत्यय हो सकता है, परन्तु इस शब्द का प्रयोग विशेपकर प्रत्याहृत भावो के लिए ही करना चाहिए।

सामान्य प्रत्यय के उत्पन्न होने के लिए विचारो का होना आवश्यक है। परन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान होने के लिए भी कुछ सरल विचार तो मन मे होने ही चाहिए। विचारो की शून्यता से काम नहीं चल सकता। किसी वस्तु को जब हम अनुभव करते है तो उस अनुभव से कुछ विचार अवश्य उत्पन्न होते हैं। इन्हीं विचारो की सहायता से हम उस वस्तु को दूसरी वार देखते ही पहचान लेते है। परन्तु, जैसा हम पहले कह आये हैं, पहचानते समय मन इन सब विचारो को काम मे नहीं लाता और उस अनुभव की पूरी व्याख्या नहीं करता। वालक कुत्ते को पहचान लेता है, पर जैसा हम कह चुके है, उसकी परिभापा नही कर सकता। कुत्ते का सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान उसे अवश्य है पर वह उस ज्ञान का

विश्लेषण करने मे असमर्थ है। वालक वहुत-सी वस्तुओ को पहचानता है। परन्तु उन वस्तुओं के वारे मे वह अधिक नहीं जानता। वहुत-सी वस्तुओ और भावो के वारे में वालकों की स्थिति भी वड़ो जैसी होती है। ऐसी कितनी वस्तुएँ होती हैं जिन्हे वे काम मे लाते है, परन्तु उनका उन्हे सविकल्पक ज्ञान ही होता है। वे अपने ज्ञान का विश्लेषण नहीं कर सकते। हम अपने घर की सीढ़ी पर प्रतिदिन चढ़ते-उतरते हैं, घड़ी मे समय देखते है, कमरे मे रहते है। परन्तु यदि हमसे पूछा जाय कि सीढ़ियाँ कितनी है अथवा घड़ी की चौड़ाई कितनी है, या उसकी सुई की ठीक लम्वाई क्या है, अथवा कमरे के फर्श मे कितने पत्थर है तो हम इन प्रश्नो का उत्तर नहीं दे सकते। हमने इन वातो पर ध्यान नहीं दिया। वस्तुओं का सविकल्पक ज्ञान है, उनका प्रयोग करते है, किन्तु कोई प्रसङ्ग ऐसा नही पड़ा जिससे उन वस्तुओ के वारे मे अधिक वाते जानने अथवा देखने की आवश्यकता पड़ी हो। अगर सीढ़ी टूट जाय, या फर्श मे पत्थर लगवाने पड़े तो हम सव वातो का निरूपण करेगे। विना किसी प्रसङ्ग और अभिप्राय के कोई किसी वस्तु का निरीक्षण नहीं करता। निरीक्षण करने मे उन विचारो की सहायता से जो मन मे है वस्तु का विश्लेषण करना पड़ता है। निरीक्षण के लिए विचार और प्रसङ्ग दोनो आवश्यक है। जव अधिक अवस्थावालो की ऐसी स्थिति होती है तो वालको का कहना ही क्या है? किसी वालक के सामने अगर कोई

यंत्र रख दिया जाय और कहा जाय कि इसे देखो तो वह क्या करेगा ? यदि उसमें कोई आकर्षक बात हुई तो कदाचित् कुतूहल जोर कर आवे और वह थोड़ी देर उस पर ध्यान दे। परन्तु अभिप्राय बिना वह किस पर ध्यान देगा और क्या करेगा—यह नहीं कहा जा सकता। अगर अभिप्राय होगा तो उसे सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा। इस कार्य के करने के लिए उसे विचारों की आवश्यकता पड़ेगी। उनके बिना वह विश्लेषण नहीं कर सकेगा।

बालकों को विज्ञान और प्रकृति-निरीक्षण सिखाने में निरीक्षण का प्रयोग किया जाता है। अध्यापक को यह बात जाननी चाहिए कि बिना किसी उद्देश्य के निरीक्षण नहीं हो सकता। मान लीजिए कि वह मेढक के बारे में बालकों को कुछ सिखाना चाहता है। तो केवल मेढक बालकों के सामने रखकर यह कह देना कि इसे देखो, पर्याप्त न होगा। जब तक वह बालक के मन में कोई अभिप्राय न उपस्थित करेगा तब तक काम न चलेगा। अगर बालकों के सामने इस प्रकार के अभिप्रायरूपी प्रश्न प्रकट किये जायँ कि यह जानवर कैसे चलता है, कहाँ से भोजन पाता है, किस प्रकार भोजन खाता है, तो इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ने के लिए बालक उस जानवर का निरीक्षण करेगा। बिना अभिप्राय के केवल समय नष्ट होगा और बालक न कुछ देखेंगे न समझेंगे। अभिप्राय के साथ साथ कुछ सरल विचारों का होना

भी आवश्यक है। खाना क्या है, चलना किसे कहते हैं, लम्बाई का क्या अर्थ है, रंग किस किस प्रकार के होते हैं, इत्यादि सरल विचारों का उसे ज्ञान होना चाहिए। निरीक्षण-द्वारा यही सरल विचार और स्पष्ट और साफ हो जाते हैं और बालक उनका पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

८—अवधान और रुचि

VIII. Attention and Interest

किसी वस्तु का सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए मन उस वस्तु का किसी न किसी रीति से अनुभव करता है और उपस्थित विचारो की सहायता से उसका विवरण करता है। बालक गेंद को देखता है और तुरन्त उसे पहिचान लेता है क्योकि उसे उस वस्तु का सविकल्पक ज्ञान प्राप्त है। देखना और पहिचानना दोनो तुरन्त ही हो जाते है। इससे यह प्रतीत होता है कि सविकल्पक ज्ञान प्राप्त करने मे कुछ भी समय नही लगता। समय कम अवश्य लगता है परन्तु यह समझना कि वह थोड़ा समय शून्य के बराबर है, ठीक न होगा। जो वस्तु आँखो के सम्मुख आती है उसे पहिचानने के लिए मन को उसे अपने सम्मुख थोडी-सी देर रखना अवश्य पड़ता है। जिसे हम तत्काल पहिचानना कहते है उसमे भी कुछ समय लगता अवश्य है। आँखो को देखने मे समय लगता है। वस्तुएँ हमारे सम्मुख इस तेजी से लाई और हटाई जा सकती है कि जिसमे हम उन्हे पहिचान न सकें क्योंकि आँख को देखने और मन को पहिचानने मे जतना समय लगता है उतना हमे नहीं मिल पाता। पूर्ण रीति

से सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान होने के लिए यह आवश्यक है कि ऐन्द्रिक अनुभव को समझने और विवरण करने के लिए मन को थोड़ा समय दिया जाय। मन की इस क्रिया, अर्थात् किसी अनुभव को मन के सामने कुछ समय तक उपस्थित रखने, को **अवधान** कहते है। किसी वस्तु अथवा विचार पर जब हम ध्यान देते है तो उसे मन के सम्मुख उपस्थित रखने का प्रयत्न करते हैं। विशेष करके अवधान का प्रयोग हम उन्हीं अवसरो पर करते है जब ध्यान देने का कार्य कुछ अधिक समय तक जारी रहता है।

अवधान को हम एक दूसरी दृष्टि से भी देख सकते है। वर्तमान काल मे मनोविज्ञानवेत्ताओ ने अवधान को इसी दृष्टि से देखा है। वे कहते है कि अवधान चेतना की एक चुनने की क्रिया है। उन भावो और विचारों इत्यादि मे से, जो चेतना में उपस्थित रहते है, मन अपने सम्मुख रखने के लिए हर समय कुछ को चुन लेता है। इन्हीं चुने हुए भावो पर मन ध्यान देता है दूसरो पर नहीं। हम चेतना-प्रवाह के बारे मे पहले कुछ विचार प्रकट कर चुके है। नदी के प्रवाह की तरह हर समय हमारे मन में भाव, विचार और नाना प्रकार के अनुभवो का प्रभाव वहा करता है। हमारी चेतनता की दशा में यह वरावर जारी रहता है। कुछ मनोवृत्तियाँ विशेप रूप से ध्यान मे प्रत्यक्ष रहती हैं और शेष प्रच्छन्न रहती हैं। परन्तु वहाव जारी रहता है और जो मनोवृत्ति अभी ध्यान में

प्रत्यक्ष है वह थोड़ी देर में ध्यान से हट जाती है और जो प्रच्छन्न रहती हैं उनमें से कुछ ध्यान में आ जाती हैं। चेतना-प्रवाह अनवच्छिन्न रूप से जारी रहता है। मन यह निश्चित करता है कि कोई मनोवृत्ति कितनी देर तक ध्यान मे रहेगी, अथवा कौन-सी मनोवृत्ति प्रत्यक्ष रूप से ध्यान मे रहेगी और कौन-सी प्रच्छन्न रूप से। चेतना-प्रवाह एक प्रकार से मन के अधीन है। मन के चेतना-प्रवाह में से कुछ वृत्तियों को चुनने और उनको ध्यान मे रखने की क्रिया का नाम **अवधान** है। मान लीजिए कि जाड़े के दिनो में हम धूप मे कुरसी डालकर प्रेमचन्द के एक उपन्यास को पढ़ रहे है। हमारे पास एक मेज रक्खी है जिस पर एक घड़ी टिकटिक कर रही है। हमारे हाथ मे एक पेन्सिल है, इत्यादि इत्यादि। जिस समय हम बैठे पढ़ते है उस समय घड़ी बराबर टिकटिक करती है, उसकी आवाज़ कान में पड़ती है, सूर्य की गरमी देह पर असर करती है और शरीर गरमाहट का अनुभव करता है, शरीर को कुरसी की मुलायम गद्दी की मुलायमियत का अनुभव होता है, किताब हाथ मे है उसका बोझ भी हाथ को ज्ञात होता है, कहानी और जो विचार पुस्तक में हैं वह मन मे पहुँचते रहते हैं। हम एक साथ ये और इसी तरह के बहुत-से अनुभव करते रहते हैं। अगर कोई पढ़ने के समय की पूरी चेतना का विश्लेषण करे तो उसे प्रतीत होगा कि ये सब बातें और और भी अनेक ..., जिनका हमने वर्णन नहीं किया, मिलकर हमारी

है और कितनी देर बाद उससे उचट जाता है। इन सब बातों को जानने के लिए बहुत-से प्रयोग किये गये है जिनसे इससे सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी बातो का पता चलता है। हम इन प्रयोगो से प्राप्त केवल थोड़े से ही परिणामो पर विचार करेगे।

(१) **अवधान का विस्तार**—"कितनी बातें ध्यान मे एक समय रक्खी जा सकती है" इस बात के जानने के लिए अनेक वैज्ञानिक क्रियाएँ की गई है। ध्यान देनेवाले के सामने बिन्दियाँ, लकीरे, गोलियाँ इत्यादि थोड़े से समय के लिए जो कि $\frac{१}{१००}$ सेकिंड से लेकर $\frac{१}{५}$ सेकिंड होता है रक्खे जाते है और यह पता लगाया जाता है कि वह एक, दो या कितनी वस्तुएँ एकदम अर्थात् एक ही समय मे ध्यान मे रख सकता है। साधारण विश्वास यह है कि केवल एक समय मे एक ही वस्तु ध्यान मे रक्खी जा सकती है। अगर कई गेंद सामने रख दी जायँ तो एक ही गेंद एक समय मे ध्यान मे रहेगी। परन्तु ऐसा नहीं है। क्रियाओ से यह पता चला है कि ध्यान मे एक समय मे ४ या ५ वस्तुएँ रक्खी जा सकती है। ५ जुदे जुदे अक्षर जैसे क, प, ड, स, अ एकदम आँख के सामने आते एक ही समय पहिचाने जा सकते है। वस्तुओं के बारे मे एक बात और जाननी आवश्यक है। कुछ वस्तुएँ जैसे अक्षर, बिन्दी, लकीर इत्यादि सरल वस्तुएँ है, कुछ वस्तुएँ जैसे शब्द, रेखा-गणित की शक्लें, वर

इत्यादि मिश्रित वस्तुएँ है। घर एक अखिल वस्तु है, त्रिकोण भी ऐसा ही है। इनके पृथक् पृथक् भाग किये जा सकते हैं और इनका विश्लेषण और सरल वस्तुओं में किया जा सकता है। अवधान के सम्बन्ध में जो प्रयोग किये गये हैं उनमे यदि कई, सरल वस्तुओ के मिश्रण से बननेवाली वस्तुओ का प्रयोग किया जाय तो भी वही नतीजा निकलता है। पाँच अक्षर जैसे ध्यान में रक्खे जा सकते हैं वैसे ही पाँच शब्द भी। कारण यह है कि मन तो वस्तु के अखिल रूप से ही सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है।

(२) **अवधान का विक्षेप**—अब प्रश्न यह है कि ध्यान कितने कितने समय के उपरान्त भङ्ग होता है। यह बात सोचने योग्य है कि जब हम किसी वस्तु पर ध्यान देते है तो कितने समय तक हमारा ध्यान बिना विक्षेप के उस वस्तु पर डटा रहता है। यह कहा जाता है कि अगर हम किसी काम में ध्यानमग्न हो जायँ तो घंटों हमारा ध्यान उसमें लगा रहता है। इससे यदि अगर यह समझा जाय कि हम इतनी देर तक उस काम को बिना थके कर सकते हैं अथवा व्यवसाय की सहायता से उस काम मे लगे रहते हैं और दूसरी बातों को अपने ध्यान से दूर रखने का प्रयत्न करते हैं तो ठीक है। परन्तु यदि इसके यह अर्थ लगाये जायँ कि हमारा ध्यान घंटो तक भङ्ग नहीं होता अर्थात् चेतना का कोई दूसरा अङ्ग ध्यान के केन्द्र में नहीं आने पाता तो यह ठीक न होगा। हमारा ध्यान थोड़े थोड़े समय के

बाद उचट जाता है और फिर उसी वस्तु पर खींच लाया जाता है। कभी ध्यान देने में व्यवसाय की आवश्यकता अधिक होती है और कभी कम।

किसी वस्तु पर ध्यान बराबर कितनी देर तक लगा रह सकता है इसके जानने के लिए भी क्रियाएँ की गई हैं। यदि एक घड़ी ली जाय और कान के पास रक्खी जाय तो टिकटिक की आवाज़ सुनाई पड़ती है। घड़ी थोड़ी दूर रक्खी जाय तो भी सुनाई देगी। धीरे धीरे दूर बढ़ाई जाय तो वह इतनी दूर पहुँचाई जा सकती है जहाँ से बिलकुल न सुनाई दे। अब एक घड़ी को लीजिए और उसे ठीक इतनी दूरी पर रखिए कि जहाँ से पूरा ध्यान देने से तो सुनाई दे पर यदि उस जगह से तनिक भी दूर रख दी जाय तो न सुनाई दे। क्रिया करते समय आगे पीछे हटाकर ऐसी ठीक जगह का पता लग सकता है। हर विषयी (व्यक्ति जिस पर क्रिया की जा रही हो) के लिए दूरी अलग अलग होगी। विषयी को ठीक स्थान पर बिठा-कर और घड़ी को उचित स्थान पर रखकर उससे कहना चाहिए कि ध्यान से घड़ी की टिकटिक को सुनो। वह ध्यान से सुनेगा और ध्यान को टिकटिक की आवाज पर लगाये रहेगा। थोड़े थोड़े समय के उपरान्त वह यह अनुभव करगा कि आवाज लुप्त हो जाती है परन्तु फिर ध्यान देने से सुनाई देती है। जब तक आवाज (टिकटिक) सुनाई देती है उस समय तक समझना चाहिए कि अवधान में विक्षेप नहीं पड़ा।

यदि विषयी से कहा जाय कि जिस समय ध्वनि लोप हो उसी समय उँगली उठा दे तो यह घड़ी देखकर पता लग सकता है कि कितने समय में अवधान में विक्षेप हुआ। क्रियाओं द्वारा ऐसा मालूम किया गया है कि साधारणतया हर ५ या ६ सेकंड के उपरान्त अवधान मे विक्षेप होता है। विक्षेप होने का सबसे कम समय ३ सेकंड और सबसे अधिक समय २५ सेकंड पाया गया है। यह क्रिया केवल ऐसे कमरे में, जहाँ सम्पूर्ण शान्ति हो, की जा सकती है। अगर विषयी बहरा है या कम सुनता है तो दूसरे प्रकार के प्रयोगो से अवधान के विक्षेप का पता लग सकता है। ऊपर लिखा प्रयोग दूसरे प्रयोगो से सरल है इसलिए बताया गया है।

(३) इस बात का पता लगाने की भी चेष्टा की गई है कि एक व्यक्ति कितने कामो को एक ही समय में ध्यान से कर सकता है। कुछ लोग यह कहते है कि वे बिना ध्यान बटे दो तीन काम एक साथ कर सकते है। ध्यान देने के अर्थ पर उन्होने पूरा विचार नहीं किया। इस बात के जानने के लिए निम्नलिखित क्रिया की जाती है। विषयी से कहा जाता है कि अक्षरों को १ मिनट तक लगातार लिखो। "अ, आ, इ, ई से आरम्भ करके पूरी पूरी वर्णमाला ज्ञ तक लिख डालो, समाप्त होने पर फिर अ से आरम्भ करो और आगे चलते चले

जाओ।" यह लिखने का काम एक मिनट तक लगातार कराया जाता है और अन्त मे जितने अक्षर विषयी लिख पाता है वह गिन लिये जाते है। इसके उपरान्त उससे कहा जाता है कि १, २, ३, ४...इत्यादि अङ्को को ध्यान मे रक्खो। हर अङ्क में ३ जोड़ो और जो उत्तर आवे उसे जोर जोर से बोलते चलो। वह ४, ७, १०.. बोलता चलता है। यह कार्य १ मिनट तक कराया जाता है और उसके कुल उत्तर गिन लिये जाते है। ये दोनो क्रियाएँ पृथक् पृथक् करा लेने के उपरान्त उससे कहा जाता है कि इन दोनो क्रियाओ को एक साथ १ मिनट तक करो (अक्षर लिखो और जोडकर अङ्क बोलो)। ऐसा कराने मे यह पाया जाता है कि दोनो कार्य खराब हो जाते है और जितना कुल काम पहली रीति से हो सका था उतना कभी नही हो पाता। बात यह होती है कि इन दो कार्यों को एक साथ करने मे ध्यान एक कार्य से दूसरे पर कूदता है और फिर लौटता है। ध्यान का दोलन होने लगता है। जिस कार्य की ओर वह दौड़ता है उसे विषयी अधिक कर डालता है और जिससे ध्यान हटता है उसी में कमी पड़ जाती है। इस सम्बन्ध मे दो एक बातें और विचार करने योग्य है। एक तो यह कि जब हम दो काम एक साथ करते हैं तो उनमें से प्राय. एक ऐसा होता है जो कि यंत्रवत् होता है और उसमें हमे ध्यान नही देना पड़ता। यह देखा गया है कि

वुनते समय एक स्त्री साथ साथ अपने बालक को मौखिक रीति से पढ़ा भी सकती है। वुनने मे ध्यान की आवश्यकता नहीं पड़ती केवल पढ़ाने में पड़ती है। वुनने का काम उसके लिए यंत्रवत् हो गया है। हॉ, अगर कहीं वुनने में अशुद्धि हो जाय या फुन्दे छोटे वड़े करने हो तो उधर ध्यान देना पड़ेगा। वाइसिकल चलाना और साथ मे वाद-विवाद करना इसी प्रकार एक साथ हो सकते है। दूसरी वात यह है कि अभ्यास का भी प्रभाव पड़ता है। सुना जाता है कि कुछ प्रतिभाशाली मनुष्य ऐसे हुए है जो दो तीन पत्र एकदम लिखा सकते थे। इसका कारण यह नहीं है कि वे दोनो में एक साथ ध्यान दे सकते हो। ऐसी अवस्थाओ मे ध्यान का दोलन एक काम से दूसरे काम पर जल्दी जल्दी कराया जाता है। धीरे धीरे इस वात की आदत डाल ली जा सकती है कि ध्यान को विना प्रयास के जल्दी जल्दी दोलन कराया जा सके। कुछ व्यक्तियो के लिए ऐसी आदत डालना वड़ा कठिन है पर कुछ ऐसे भी होते है जो धीरे धीरे अभ्यास कर लेते है।

अवधान के प्रतिवन्ध—हम कह चुके है कि अवधान चेतना-प्रवाह मे से कुछ वृत्तियो के चुनने की क्रिया है। हमारा मन उस प्रवाह में से कुछ वातो को चुन लेता है और हम उन पर ध्यान देने लगते हैं। हमारे मन मे यह चुनने की शक्ति है इसलिए हम ऐसा कर सकते हैं, परन्तु प्रश्न यह सामने

आता है कि मन कुछ वृत्तियों को तो चुनता है और उन्हें ध्यान में लाता है पर दूसरी वृत्तियों को वह नहीं चुनता। यह जानने योग्य बात है कि उसका प्रयोजन किन बातों पर निर्भर है। चुनाव नियमानुसार ही होना चाहिए क्योंकि मन की कोई क्रिया ऐसी नहीं है जो बिना किसी नियम के होती हो। यह बात और याद रखनी चाहिए कि मन की यह क्रिया (ध्यान देने की) प्रायः उसकी ही इच्छा पर निर्भर है। हाँ, कभी कभी यह भी होता है कि कुछ वस्तुएँ और वृत्तियाँ अपने को उसके ध्यान मे ज़बरदस्ती भी घुसा देती हैं।

पहले हम मन के प्रयोजन के बारे में विचार करेंगे। चुनने में मन का क्या अभिप्राय होता है। मन को किसी ओर चलानेवाली वस्तु प्राकृतिक प्रवृत्ति है। जिस ओर प्रवृत्ति ले जाती है उसी ओर मन को जाना पड़ता है। जब तक मनुष्य का मनोविकास नहीं होता तब तक सरल प्रवृत्तियाँ ही उसके मन पर अधिकार रखती हैं और उसे मार्ग बताती हैं। जैसा हम देख चुके हैं, पशु केवल प्रवृत्तियों ही के बल पर चलते हैं और उससे ऊपर उनका मनोविकास नहीं होता। आरम्भ मे जब तक परिस्थिति का प्रभाव मनुष्य पर नहीं पड़ता उसका व्यवहार भी उच्च श्रेणी का नहीं होता। प्राकृतिक प्रवृत्ति ही मनुष्य के मन को वह बल प्रदान करती है जिसके कारण वह खास वस्तुओं पर ध्यान देता है और ... के साथ उक्त व्यवहार करता है। प्राकृतिक प्रवृत्ति की

परिभाषा से ही विदित होता है कि वह प्राणी के मन को कुछ खास वस्तुओं पर ध्यान देने के लिए बाध्य करती है। इसी कारण बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी हैं जिनको देखते ही या और किसी प्रकार अनुभव करते ही हम उन पर ध्यान देने लगते है। एक छोटे से गोल गेंद को देखकर बिल्ली उसकी ओर आकर्षित होती है, उसे ध्यान से देखती है और हिलाती है। उसमे यह प्राकृतिक प्रवृत्ति है कि चलती हुई वस्तु, जिसका वह शिकार करके भोजन पा सकती है, उसके ध्यान को आकर्षित करे और वह उसकी ओर दौड़े। यह अवधान का एक बड़ा सरल रूप है। बालक के व्यवहार को देखने से भी यह पता चलेगा कि प्राकृतिक प्रवृत्ति उसके मन को कुछ वस्तुओ पर ध्यान देने के लिए बाध्य करती है। नन्हा बच्चा दूध की बोतल और स्तन की ओर बहुत ध्यान देता है क्योकि ये उसकी भूख को शांत करने की चाह को पूरी करने में सहायता देते है। फिर वह अपने चारो ओर चलते-फिरते लोगो की ओर ध्यान देता है क्योकि ये उसकी अन्य चाहो को पूरी करते है। उसकी चाह उसकी प्रवृत्तियो से ही उत्पन्न होती है। बड़े होने के उपरान्त लड़का उन वस्तुओ पर ध्यान देता है जो उसके स्थायी भावो से सम्वन्ध रखती हैं। अब वे बाते जो उसके घर, उसके स्कूल, उसके खेल इत्यादि से सम्बन्ध रखती है, उसका ध्यान आकर्षित करती है। इस प्रकार पहले तो मन को ध्यान देने के लिए प्रयोजन

करने मे प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ रास्ता दिखलाती है और फिर स्थायी भाव ।

वालक को खेल की और युवक को रोचक वस्तुओ पर ध्यान देने मे कुछ सोचना नहीं पड़ता । मन विना कुछ प्रयत्न किये हुए ही उनकी ओर आकर्षित होकर ध्यान देने लगता है। विना व्यवसाय के ही हम इस प्रकार का ध्यान देने लगते है। इसलिए इसको **अनैच्छिक अवधान** कहेगे। विना व्यवसाय के जो ध्यान दिया जाता है उसमे मन को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता । इसलिए उसको किसी प्रकार की थकान नहीं होती और न किसी मानसिक शक्ति का व्यय ही होता है। अनैच्छिक अवधान उन सब वस्तुओ को दिया जाता है जो कि हमारी अपरोक्ष रुचि की हो । घर के लोगो पर ध्यान देने मे अथवा अपनी रुचि के अनुकूल वस्तुओ के वारे मे सोचने से मानसिक थकावट नहीं होती। परन्तु जव हमे उन वस्तुओ और विचारो की ओर ध्यान देना पड़ता है जो हमारी रुचि के अनुकूल नहीं है, जैसे कि वालक के लिए गणित के प्रश्न लगाना, अथवा पाठ को याद करना, अथवा कोई लेख लिखना इत्यादि, तव हमे मानसिक थकावट होती है । मन विना मानसिक थकावट के अपने को उस कार्य मे लिये या लगाये नहीं रख सकता । मन को व्यवसाय का पूरा प्रयोग करना पड़ता है । ऐसा ध्यान जो कि सप्रयास होता है उसे **ऐच्छिक अवधान** `` । वहुत-से जीवनोपयोगी कार्यों मे मनुष्य को इस

अवधान को काम में लाना पड़ता है नहीं तो जीवन में सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। हाँ, यह अवश्य है कि जितने उत्तम स्थायी भाव मनुष्य मे शिक्षा-द्वारा उत्पन्न हो गये होंगे उतना ही अधिक वह जीवन के कर्तव्यों मे अनैच्छिक अवधान दे सकेगा और उसे अपने मन को थकाना न पड़ेगा। स्थायी भाव उत्पन्न हो जाने के कारण ध्यान देने के लिए प्रयास की आवश्यकता अधिक नहीं पड़ती। मनुष्य में धीरे धीरे शिक्षा का यह प्रभाव पड़ता जाता है कि ऐच्छिक ध्यान देने के अवसर उसके सामने आते हैं।

हम अभी तक जिस अवधान के बारे में विचार कर आये है वह **विषयीगत** है। विषयी के मन में जो प्राकृतिक अथवा अर्जित प्रवृत्तियाँ (जैसे स्थायी भाव) है, उन्हीं के कारण उसका मन वस्तुओं की ओर आकर्षित होता है और उसे ध्यान देना पड़ता है। विषयीगत अवधान का कारण मनोवृत्तियाँ होती है और ध्यान देना या न देना मन के अधीन होता है। अधिकतर तो अवधान विषयीगत ही होता है। परन्तु कभी कभी **विषयात्मक** अवधान भी होता है। कुछ वस्तुएँ जिनमे कि भौतिक शक्ति बहुत प्रबल होती है अपने को हमारे ध्यान में जबरदस्ती ले आती है। ऐसी वस्तु जिसमें से बड़ी तीव्र ज्योति निकल रही हो, अथवा जिसमें कोई कड़ी गन्ध हो, अथवा जोर की ध्वनि हो तो वह हमारे ध्यान को शीघ्र आकर्षित कर लेती है। हमारी रुची ऐसी वस्तु को ध्यान में

लाना चाहे या न लाना चाहे, हमारी प्रवृत्तियाँ उस ओर ध्यान देना चाहे अथवा न चाहे, तो भी उपर्युक्त प्रकार की वस्तु केवल अपनी प्रबलता के कारण अपने को विषयी के ध्यान में डाल देती है। कोई आश्चर्यजनक नई बात हो तो वह हमारे ध्यान मे तुरन्त आ जाती है। कोई बहुत छोटी या बहुत बड़ी वस्तु हो तो उस पर हम ध्यान देने लगते हैं। बाज़ार में साधारण चलते फिरते मनुष्यो पर कोई ध्यान नहीं देता परन्तु यदि एक बौना दिखाई दे जाय या कोई बहुत मोटा पुरुप सामने आ जाय तो हम उस पर अवश्य ध्यान देने लगते हैं। बहुत-से दूकानदार विज्ञापन देने में इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं और ग्राहको को आकर्षित कर लेते हैं।

अब हम अवधान और रुचि के सम्बन्ध पर विचार करेंगे और यह देखेंगे कि इस सम्बन्ध के होने से अध्यापक को अपने कार्य में कहाँ तक सहायता मिल सकती है। अगर हम अपने सब व्यवहारो पर ध्यान दे तो हमें यह प्रतीत होगा कि वे अधिकतर ऐसे है जिनके करने मे हमें रुचि रहती है। कुछ ऐसे भी है जिनमे हमे रुचि नहीं होती पर हमें वह करने पड़ते है। जब हम यह कहते है कि हमे किसी काम के करने में रुचि है तो उसका अर्थ यह होता है कि हम बिना कोई विशेप प्रयत्न के उस काम मे अपने को लगा सकते है। उस काम मे अपने मन को लगाने में कोई व्यवसाय नहीं करना पड़ता। बच्चा ... से बड़ी रुचि से खेलता है। गानेवाला बाजा बड़ी

रुचि से बजाता है। तसवीर खींचनेवाला बड़ी रुचि से रंग भरता है। रुचि से बालक, जवान, बूढ़े सभी कुछ न कुछ काम कर सकते हैं। हमें यह जानने की आवश्यकता है कि कौन-से कार्य ऐसे है जिनके करने की हमें रुचि है और कौन-से ऐसे, जिनमें हमारी रुचि नहीं है। रुचि को हम विषय और विषयी दोनों की दृष्टि से देख सकते हैं। बच्चों को ही लीजिए। उनकी एक तो रुचि इन्द्रियविषयक पदार्थों मे होती है। कोई नई चमकीली वस्तु हो, कोई मधुर ध्वनि हो, कोई मनोरंजक कार्य उनके सामने किया जा रहा हो तो बच्चो की रुचि उधर झुक जायगी। बालक की रुचि उत्तेजित करने के लिए अध्यापक कभी कभी इस बात का प्रयोग करता है। अध्यापक रंगीन चित्र, श्यामपट पर खिंचे हुए खाको, हाथ से बनाये हुए नमूनो, आदि यथार्थ वस्तुओ का उपयोग बालकों की रुचि झुकाने के लिए ही करते है। बालक के लिए काम रोचक बनाने के अभिप्राय से इंद्रियो को आकर्षित करनेवाले पदार्थों का इस प्रकार कभी कभी उपयोग करना तो बुरा नहीं है परन्तु केवल उन्हीं पर भरोसा रखकर उनका अत्यधिक उपयोग करने से बालक का स्वभाव बिगड़ जाता है। जो रुचि इन्द्रिय-विषयक पदार्थों से उत्तेजित की जाती है वह स्थिर नहीं होती और बालक को अधिक समय तक कार्य में प्रस्तुत नहीं रख सकती। यह रुचि बहुत ही क्षणिक होती है क्योंकि यह विषयात्मक होती है। स्थायी रुचि वही होगी जो कि विषयीगत हो। हम

पीछे कह आये है कि उसी व्यवहार मे प्राणी की सबसे अधिक रुचि होती है जो कि प्राकृतिक प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखता है और जिसमे वह स्वाभाविक रुचि के कारण दत्तचित्त होता है। अगर ऐसे रोचक काम के साथ किसी दूसरे काम का सम्बन्ध लगा दिया जाता है तो यह दूसरा काम भी रुचिकारक हो जाता है। जिन बातो मे स्वाभाविक रुचि नहीं होती उनके साथ स्वाभाविक रुचिवाली बातो का सम्बन्ध कर देने से उनमें भी रुचि उत्पन्न हो जाती है और यह रुचि भी ऐसी स्वाभाविक हो जाती है जैसे कि पहले के काम मे। मनुष्य को यदि पशुवत् छोड़ दिया जावे तो उसकी रुचि केवल उन्हीं कामो में होगी जो कि प्राकृतिक प्रवृत्तियो के अधीन है। परन्तु धीरे धीरे शिक्षा के कारण और परिस्थिति का प्रभाव पड़ते पड़ते प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ दबकर स्थायी भाव उत्पन्न हो जाते है। इसी प्रकार जो प्राकृतिक प्रवृत्तियो के साथ स्वाभाविक रुचियाँ होती हैं वह बदलकर स्थायी भावो के साथवाली अर्जित रुचियाँ हो जाती है। मनुष्य की सबसे बडी रुचि आत्मविषयक बातो मे होती है। कुछ बाते ऐसी होती है जो साधारण समय मे अरोचक मालूम पडती है। किन्तु जब इन अरोचक बातो का सम्बन्ध मनुष्य के 'स्व' (स्वार्थो) से हो जाता है तब वे भी रुचिकर हो जाती हैं। बहुत-से लोग बिना रुचि के किसी ... मे लग जाते हैं। कुछ समय तक वह रूखा लगता है,

परन्तु ज्यो ही उनके 'स्व' का सम्बन्ध उससे हो गया त्यो ही उन्हे उसी रोजगार में बड़ी रुचि उत्पन्न हो जाती है। हर सप्ताह में सरकारी गजट छपता है। उसमें साधारण रीति से हमें रुचि नहीं रहती। पर जब हम स्वयं सरकारी नौकर हो जाते है तब उसे बड़े चाव से पढ़ते हैं। बालक से अगर कहा जाय कि रेल का टाइमटेबल देखो तो वह कभी रुचिपूर्वक न देखेगा। परन्तु यदि उसे कोई यात्रा करनी होती है तो वह रुचिपूर्वक उसका अध्ययन करने लगता है। बालको को रेल का टाइमटेबल देखना सिखाना बड़ा आवश्यक है। इसके लिए सबसे उत्तम रीति यही है कि भूगोल के पाठ में जहाँ रोचक यात्रा का वर्णन किया जा रहा हो वहाँ उसको बालकों के सामने उपस्थित कर दे।

ऊपर लिखी बातो से यह स्पष्ट हो गया होगा कि रुचि और अवधान का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस काम में हमें रुचि होती है उसी में हम ध्यान देते है। जब हम रुचि से ध्यान देते है तब हमारे मन को परिश्रम नहीं करना पड़ता। जब कभी हम किसी काम में अनैच्छिक ध्यान देते है तब यह स्पष्ट है कि हमारी रुचि उसमे है। हमारी रुचि किन किन कामो मे होती है और किनमें नहीं, अरोचक कामो में किस प्रकार उत्पन्न कराई जा सकती है, इन सबका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। यदि अध्यापक चाहता है कि बालक ध्यान दें तो उसका यह कर्तव्य है कि काम को बालको के लिए रोचक बनावे। यदि

यह स्वाभाविक रोचकता से हो सकता है तो ठीक है, नहीं तो धीरे धीरे अर्जित रोचकता उत्पन्न करने की चेष्टा करनी चाहिए। वह जितनी ही अधिक रुचि से काम लेगा उतना ही अधिक अनैच्छिक ध्यान उसे मिल सकेगा। यह कहना तो मिथ्या है कि अनैच्छिक ध्यान सदैव मिल सकता है। ऐसे अवसर अवश्य सामने आते हैं जब कि प्रयास की आवश्यकता पड़ती है। बालक को अपने व्यवसाय को काम मे लाना पडता है और ऐच्छिक अवधान देना पड़ता है।

हमने रुचि के महत्त्व को अधिक माना है। वर्तमान काल के शिक्षा-शास्त्र में उसका महत्त्व सभी मानते है। कोई अध्यापक ऐसा नहीं है जो इस बात पर जोर न देता हो कि स्कूल के कार्य मे बालक को ध्यान देना चाहिए। पर वर्तमान काल मे साथ ही साथ इस बात पर भी जोर दिया जाता है कि काम मनोरञ्जक और बालक के लिए रोचक हो। लोग रुचि के इस आदर्श की समालोचना भी करते है और कहते है कि रुचि का महत्त्व ऊँचा करके मनोविज्ञानवेत्ताओ ने वर्तमान काल के शिक्षा-शास्त्र को सरल ही नहीं बल्कि पिलपिला बना दिया है। रुचि का बखान करके सब कार्य इतना सरल कर दिया गया है कि बालक को, उन कठिन कामो के करने के लिए, जो उसे अपने जीवन में करने पड़ेगे, निकम्मा कर दिया जाता है। उसको कठिन और अरोचक काम करने का अभ्यास कराना चाहिए। कहना यही पड़ेगा कि इस प्रकार के

समालोचकों ने रुचि के अर्थ को ठीक नहीं समझा। वे रुचि के इस आदर्श की तह तक नहीं पहुँचे। हम केवल उसी रुचि पर भरोसा नहीं रखते जो इन्द्रियों के आकर्षण से संबद्ध है और न उन स्वाभाविक रुचियो पर जो हमें केवल पदार्थों से आनन्द लेने और खेल-तमाशो और मनोरंजन में लगा सकती हैं। हम अपने बालकों मे अर्जित रुचियो को, जो स्थायी भावों के साथ उत्पन्न होती है और उन रुचियो को जो मनुष्य को आत्मसम्मान के कार्यों की ओर झुकाती हैं, उत्पन्न करना चाहते हैं। इस प्रकार की रुचि का विस्तार इतना अधिक है कि उसके द्वारा कोई भी व्यक्ति अपने मन को प्रसन्नता-पूर्वक जीवन के कठिन कार्यों में लगाकर उन पर पूरा पूरा ध्यान दे सकता है।

६—विचार-सम्बन्ध और स्मृति

XI. Association of ideas and Memory

मानसिक व्यवहार के एक मुख्य व्यापार के बारे में हम विचार कर चुके है। वह व्यापार चेतना-प्रवाह में से कुछ वृत्तियो का, ध्यान मे रखने के लिए, प्रयोचन करना है। मन कुछ दूसरे प्रकार के व्यापार भी कर सकता है, उनमें से एक संसक्ति है। मन मे प्रत्यय-सम्बन्ध बनाने की शक्ति है। इस शक्ति की सहायता से जितने भाव और विचार मन मे आते हैं और जो पहले से उनमे होते है उनका आपस में सम्बन्ध हो जाने में कारण व्यूहन किया जा सकता है। अगर मन मे विचारो के व्यूहन करने की शक्ति न होती तो विचार और भाव बिलकुल बेतरतीबी से मन मे घुसते और वहाँ अस्तव्यस्त होकर पड़े रहते। इसका परिणाम यह होता कि मनुष्य की सब बातें बे-सिर-पैर की होतीं। जितने विचार बाहर से मन मे पहुँचते हैं उनको मन एक क्रम से लेता है, और फिर उनको उन विचारो के साथ, जो उसमे पहले से वर्त्तमान हैं, क्रम से और विधि-पूर्वक सजा लेता है। मन के इस व्यवहार को विचार-सम्बन्ध कहते हैं।

विचार-सम्बन्ध मनोविज्ञान में कोई नई बात नहीं है। इस पर प्राचीन काल से बहुत विचार किया गया है। यहाँ तक कि मध्यकालीन समय में तो सारा मनोविज्ञान इस विचार-सम्बन्ध के नियमों पर निर्भर समझा जाता था। उस समय के मनोविज्ञानवेत्ता, जैसे मिल (Mill), स्पेन्सर (Spencer), ब्राउन (Brown) इत्यादि, इसी को सारे मानसिक व्यापार का मूल कारण समझते थे। सारा व्यवहार—सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान से लेकर, स्मृति, तर्क इत्यादि तक सब—इसी के आधार पर समझाया जाता था। वर्तमान काल में विचार-सम्बन्ध का महत्त्व कम नहीं है परन्तु इसको इस रूप में मौलिक नहीं समझा जाता। मानसिक व्यवहार का एक रूप यह भी है। मन के मुख्य व्यापारों में एक मुख्य व्यापार प्रयोजन है, दूसरा यह संसक्ति, और तीसरा जिस पर हम अभी विचार करेंगे वह अविनाश है।

साधारण रीति से हम यह जानते हैं कि कोई अनुभव हमको दूसरी बार इसी लिए स्मरण हो आता है कि उसका हमारे विचारों से कुछ न कुछ सम्बन्ध है। गाँव में किसी समय बैलगाड़ी के पहिये से एक स्त्री का पैर कुचल गया था। तो यह सम्भव है कि गाँव में उस जगह फिर कभी बैल-गाड़ी देखते ही उस बात का ध्यान आ जाये और पैर कुचले जाने-वाली दुर्घटना फिर स्मरण हो आवे। अगर किसी घटना के बारे में विचार-सम्बन्ध प्रबल है तो वह स्पष्ट स्मरण में आ

जायगी परन्तु जो विचार-सम्बन्ध निर्बल है तो कुछ थोड़ा थोड़ा-सा ही स्मरण आयेगा और स्पष्ट रीति से सारी घटना याद न आ सकेगी। इस सम्बन्ध में एक बात यह भी ध्यान में रखनी चाहिए कि जब किसी अनुभव का पुनरुद्भावन होता है तो मन के सामने असली घटना की प्रतिमा आ जाती है। पहला अनुभव जितना प्रबल या निर्बल होता है उसी के अनुसार स्पष्ट या धुँधली प्रतिमाएँ भी मन के सम्मुख आती है। जो बैल-गाड़ी से पैर कुचलने-वाली दुर्घटना को हमने खूब ध्यान से देखा हो तो उसकी स्मरण-प्रतिमाएँ स्पष्ट होगी और जो उस घटना को यों ही देखा है तो वैसी ही अस्पष्ट प्रतिमा सामने आवेगी। अगर हम अपने पुराने अनुभव की अन्तर्दृष्टि करे तो वह प्रतिमा हमारे सामने आ सकती है। इस बात के जानने के लिए कि प्रतिमा मन के सामने आ सकती है या नहीं हमे सोचना पड़ेगा और अपने अनुभव का विश्लेषण करना पड़ेगा। अगर हम किसी ऐसी प्रतिमा के बारे में विचार करे तो हमें ज्ञात होगा कि प्रतिमा असली अनुभव से बहुत मिलती है। केवल इतना ही नहीं है कि प्रतिमा असली अनुभव से मिलती हुई होती है, बल्कि स्मरण के आते ही मन पुराने अनुभव को फिर दूसरी बार अनुभव करने लगता है। स्कूल के घंटे को बजते नित्य सुनते हैं। घर पर किसी समय उस अनुभव को दोहराना चाहे तो मन के सामने वही टनटन की ध्वनि सुन

ली जा सकती है। ध्यान लगाकर हम प्रतिमा की कल्पना कर सकते हैं।

प्रतिमाएँ कई प्रकार की होती हैं। भिन्न भिन्न व्यक्तियों की कल्पना-शक्ति इन भिन्न भिन्न प्रकार की प्रतिमाओं के लिए ही नहीं होती। कोई किसी ओर तीव्र होता है और कोई किसी ओर। साधारण रूप से प्रतिमाएँ श्रवण, घ्राण, दृष्टि, स्पर्श, स्वाद की हो सकती हैं। जो अनुभव सुनकर प्राप्त किया गया हो, जैसे स्कूल के घंटे की टनटन अथवा रेल की सीटी की आवाज़, इसकी श्रवण-प्रतिमा बनेगी। सूँघने से प्राप्त अनुभव की, जैसे गुलाब या चमेली की सुगन्ध या नाली की दुर्गन्ध की, घ्राण-प्रतिमा बनेगी। दृष्टि-द्वारा अनुभव प्राप्त हुआ हो उसके लिए दृष्टि-प्रतिमा बनेगी। अधिकतर अनुभव दृष्टि-द्वारा ही होते है और करीब करीब सभी मनुष्यों में दृष्टि-प्रतिमा-कल्पना तीव्र होती है। कोई घर या वाटिका देखी हो तो आँख मींचकर उसें सामने ला सकते है। स्पर्श और स्वाद की भी प्रतिमा बनती है। अपनी कुरसी की गद्दी जिस पर हम बैठते हैं उसके गुदगुदेपन के अनुभव को हम फिर प्रतिमा-द्वारा कल्पना कर सकते हैं। इसी प्रकार जो मिठाई या खटाई चखी हो उसके स्वाद की प्रतिमा भी बना सकते हैं। प्रतिमा-कल्पना मानसिक क्रिया है। हर एक व्यक्ति की यह मानसिक शक्ति एक-सी नहीं होती। कुछ लोग श्रवण-प्रतिमा बनाने में

तीव्र होते है तो दूसरे घ्राण-प्रतिमा बनाने मे वैसे ही दक्ष होते है।

मनुष्यो की प्रतिमा कल्पना करने की तीव्रता जानने के लिए बहुत-से सरल प्रयोग किये जाते है जिनसे यह पता चल जाता है कि कौन-सी इन्द्रियो-द्वारा ज्ञान प्राप्त किया हुआ अनुभव उनके मन मे पुष्ट रीति से अङ्कित हो जाता है। अपनी कक्षा के बालको के बारे मे यह बात जानने से अध्यापक को बहुत सहायता मिल सकती है। कोई नया शब्द या बात सिखानी हो तो बालकों को उसका ज्ञान सभी इन्द्रियो-द्वारा दिया जाता है। शब्द की तसवीर दिखाई जाती है, उसका उच्चारण किया जाता है और इन दोनो में सम्बन्ध बॉध दिया जाता है जिससे वह मन मे अङ्कित हो जाय। अगर अध्यापक को यह पता चल जाय कि हमारे बालक देखी हुई वस्तु की प्रतिमा सरलता से बना लेते है, परन्तु सुनी हुई बात की प्रतिमा उतनी सुगमता से नहीं बना पाते तो सुनानेवाले प्रयोग पर अधिक ज़ोर देना चाहिए। प्रतिमा-कल्पना की योग्यता जानने के लिए बहुत सरल प्रयोग काम में लाये जा सकते है :—

(१) विषयी से कहो कि दो या पॉच मिनिट तक वह लाल रग की जितनी वस्तुएँ ध्यान मे ला सकता है उनका नाम ले—जैसे लाल स्याही, लेटरबक्स इत्यादि। फिर उसको

---

* जिस व्यक्ति पर कोई प्रयोग किया जाता है उसे मनोविज्ञान मे विषयी कहते है।

उतना ही समय दो और कहो कि जो वस्तुएँ मीठे स्वाद की हों, उनके नाम बतावें।

(२) अपनी आँखें मींचो और एक सीधी रेखा की प्रतिमा सामने लाओ। यह बताओ कि उस प्रतिमा की लम्बाई को जब चाहो छोटा बड़ा कर सकते हो या नहीं।

(३) एक दौड़ती हुई रेलगाडी की प्रतिमा अपने मन के सामने लाओ।

(क) बताओ प्रतिमा स्पष्ट है या धुँधली। (ख) बताओ रेल की सीटी की आवाज और पटरियों पर चलने की आवाज कानों में आती है या नहीं। इत्यादि।

(४) कभी सिर में पीड़ा हुई हो उसकी कल्पना करो। क्या पीड़ा के अनुभव को फिर चेतना में ला सकते हो? क्या आँखों के सामने बँधे हुए माथे इत्यादि की प्रतिमा देख सकते हो?

तरह से स्थापित हो जायगा और समय नष्ट नहीं होगा। पुराने विचारो के साथ नये विचारो के सम्वन्ध होने की क्रिया को सहचार कहते है। सहचार के वहुत से नियम वताये गये है; परन्तु हम केवल मुख्य नियमो पर विचार करेगे। यह वात भी जानने योग्य है कि विचार-सम्वन्ध-वन्धन केवल किसी एक नियम पर निर्भर नही है। प्राय: दो या तीन नियमो का प्रयोग एक ही उदाहरण मे पाया जा सकता है।

(१) **नवीनता**—'दूसरी वाते अगर वरावर हों तो एक विचार उपस्थित होने से उस दूसरे विचार का जिसका उससे नवीन सम्वन्ध हुआ है पुनरुज्जीवन हो जाता है।' अगर 'पुस्तक' शव्द किसी व्यक्ति के सामने उपस्थित किया जाय तो उसके मन में तुरन्त ही उस पुस्तक का स्मरण हो आता है जो कि वह उस समय या उससे कुछ ही पहले पढ़ रहा हो। कालिदास का नाम लेने से तुरन्त ही शकुन्तला नाटक का ध्यान आ जाता है, परन्तु अगर हम किसी समय मेवदूत पढ़ रहे हो और उसके उपरान्त तुरन्त ही कोई कालिदास का नाम ले तो नवीनता के कारण मेवदूत पुस्तक का नाम हमारे मन में उपस्थित हो आवेगा। किसी मित्र का नाम लेने से वहुधा वह वटना जो कि उसके साथ हाल ही मे हुई हो ध्यान मे आ जाती है और दूसरी पुरानी वटनाओ का ध्यान ...लम्व से होता है।

(२) अभ्यास—'दूसरी बातें अगर बराबर हों तो एक विचार उपस्थित होने से उस दूसरे विचार का जिसका उससे बार बार सम्बन्ध बँधा होगा पुनरुज्जीवन होता है'। अगर हरा रंग किसी व्यक्ति के सामने कहा जाय तो उसके मन में घास का ध्यान आ जाता है। उसका कारण यही है कि घास को उसने बहुत देखा है और यह अनुभव किया है कि उसका रङ्ग हरा होता है। यह भी देखा गया है कि आदत के कारण नवीन विचार पर उतना ध्यान नहीं जाता जितना कि उस विचार पर जिसका बार बार प्रयोग किया जाता है। यदि कई व्यक्तियों को एकत्रित किया जाय और एक ही शब्द उन सबों के सामने उपस्थित किया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति के मन में पृथक् पृथक् भावों का पुनरुज्जीवन होता है। 'नीला' कहने से कुछ को आकाश का ध्यान आयेगा क्योंकि उसे सदा देखते हैं, कुछ जो समुद्र-यात्रा करते हैं उन्हें समुद्र का ध्यान आयेगा और आकाश का नहीं। जिसको जिस प्रकार का अभ्यास हो जाता है, जो कोई जिस प्रकार का काम करता रहता है उसके मन में उसी के अनुकूल नया भाव उत्पन्न हो जाता है। अध्यापक के सामने 'कोश' का नाम लीजिए तुरन्त ही अमरकोश, शब्दार्थपारिजात इत्यादि उसके ध्यान में आ जावेंगे। वही 'कोश' किसी महाजन के सामने कहने से उसे अपने ख़ज़ाने का स्मरण हो आयेगा न कि शब्दार्थपारिजात का।

अभ्यास से मिलता हुआ एक नियम रुचि का भी माना जाता है। कुछ विद्वान् इन दोनो को पृथक् मानते है किन्तु कुछ विद्वानो का मत है कि दोनो में कोई मौलिक भेद नहीं है। इनका कथन यह है कि जब किसी व्यवहार में रुचि हो जाती है तो मनुष्य उस व्यवहार को बार बार करने की चेष्टा करता है और उसके सारे विचार-सम्बन्ध उसी मार्ग मे बनते है। मान लीजिए कि किसी व्यक्ति को मनोविज्ञान मे रुचि है, उसको सदा उसी का ध्यान रहता है। 'पुस्तक' शब्द का नाम लेते ही उसके मन मे सदा मनोविज्ञान की किसी पुस्तक का पुनरुज्जीवन होगा। दूसरे विषयो की पुस्तको के नाम का स्मरण नही आवेगा।

(३) **प्रथमता**—'किसी विचार के उपस्थित होने से दूसरे उस विचार का जिसका उससे सबसे पहले सम्बन्ध बँधा हो, पुनरुज्जीवन होता है'। सबसे पहला असर और विचार-सम्बन्ध बहुत पुष्ट हुआ करता है। किसी नई बात का अभ्यास किया जाय तो उसमे सबसे प्रथम जो क्रिया की जाती है वह ध्यान मे पुष्ट हो जाती है। कविता की पहली पक्ति सुगमता से कण्ठस्थ हो जाती है। किसी व्यक्ति के बारे में पहले जो प्रतिपत्ति होती है उसका असर बहुत पक्का होता है।

(४) **प्रबलता**—'किसी विचार के उपस्थित होने से दूसरे विचार का, जिसका उससे बड़ी प्रबलता से सम्बन्ध बँधा

हो, पुनरुज्जीवन होता है।' किसी अनुभव मे जो भाव बड़ी प्रबलता के साथ आता है उस भाव का पुनरुज्जीवन बड़ी सुगमता से होता है। उसका प्रभाव चित्त पर इतना गहरा पड़ जाता है कि उसके सामने उसके प्रतिस्पर्धी भावो को प्रभाव डालने का अवसर ही नहीं मिलता। लड़कपन की बाते इतनी प्रबलता से मन पर असर कर जाती है कि उनका बड़ी स्पष्ट रीति से स्मरण हो आता है। एक भयङ्कर काले कुत्ते ने एक बालक के सहपाठी को जोर से काट लिया, रुधिर बहुत निकला। इससे काटे बालक को बुखार आया, उसने बहुत कष्ट पाया। देखनेवाले बालक के मन मे यह घटना इतने प्रबल रूप से असर करती है कि किसी काले कुत्ते को सड़क पर देखते ही उसे अपने मित्र के काटे जाने और उसके कष्ट का स्मरण तुरन्त हो आता है। यदि बालक के मन पर इस घटना के प्रभाव की प्रबलता अत्यन्त अधिक होगी तो संभव है कि कुत्तो की ओर से बालक को घृणा हो जाय। बहुत-से बालक बचपन की प्रबल घटनाओ के कारण बहुत-सी वस्तुओ से डरने या प्रेम करने लगते है।

विचार-सम्बन्ध के दो मूल नियम माने जाते हैं। एक तो अव्यवधान का नियम कहलाता है और दूसरा समानता का।

(१) समानता—'दो अनुभव जो कि समान होते हैं उनमें सम्बन्ध सरलता से बन जाता है और एक के ध्यान मे आने से

दूसरे का पुनरुज्जीवन सुगमता से हो जाता है।' रामलाल और श्यामनारायण दो लड़कों की शकल बहुत कुछ मिलती है। उन्हे दरजे में देखते रहने से विचार-सम्बन्ध बँध गया है। अध्यापक को कभी रामलाल का स्मरण हो आता है तो श्यामनारायण का भी ध्यान तुरन्त आ जाता है। हमारे मन मे प्राय. तरङ्गे उठती रहती है। उनमे भी इसी नियम का प्रभाव देखने मे आता है। जब एक वस्तु पर ध्यान जाता है तब उससे मिलती हुई दूसरी वस्तु भी धीरे धीरे ध्यान मे आ जाती है।

(२) अव्यवधानता—'वे बाते जो कि साथ साथ एक ही समय में या एक ही स्थान पर अनुभव की जाती है एक दूसरे से गँठ जाती है, और एक के ध्यान मे आने से दूसरे का पुनरुज्जीवन सरलता से हो जाता है'। किसी चौराहे पर एक ठेला और मोटरकार एक समय ही निकला करते है। इन दोनो मे विचार-सम्बन्ध बँध जाता है और उस मोटर का ध्यान आने से ठेले का पुनरुज्जीवन भी हो जाता है। यह नियम साथ साथ और लगातार एक दूसरे के बाद होनेवाले दोनो प्रकार के विचारो पर लागू है। एक बरात निकलती है, उसमे पहले पहल घुडसवार हैं, उसके पीछे एक हाथी है, फिर चार घोडा-गाड़ियाँ है, फिर एक पालकी है इत्यादि इत्यादि, तो देखनेवाले के मन मे आगेवाली वस्तु के साथ उसके पीछे-वाली का सम्बन्ध जुड़ जाता है। घोड़ा-गाड़ी के ध्यान में आने से उसके आगेवाला हाथी और उसके पीछेवाली पालकी

ध्यान में आ जाती है। जब कोई कण्ठस्थ की हुई कविता दोहराई
जाती है तो पहला पद कहने से दूसरा भी स्मरण हो आता है।
जब रटे हुए पहाड़े बोले जाते है तो एक कड़ी बोलने से उसके आगे
की कड़ी भी ध्यान मे आ जाती है।

हमने इतने नियमो का उल्लेख किया है परन्तु मनोवृत्तियो का
मामला इतना मिश्रित और पेचीदा है कि विचार-सम्बन्ध में किस
समय किस नियम का प्रयोग हुआ इस बात को निश्चय
करना बड़ा कठिन है। मन सदा एक ही नियम का प्रयोग
नही करता। एक ही विचार का पुनरुज्जीवन भिन्न भिन्न
नियमो से भिन्न भिन्न पुरुषो मे और भिन्न भिन्न समय भिन्न
भिन्न रूप मे हो सकता है। इतनी स्वतंत्रता होते हुए भी विचार-
सम्वन्ध बनने में ऊपर बतलाये हुए साधारण नियमो का पालन
अवश्य होता है। अध्यापक को इन नियमो के अनुसार कार्य
करने से शिक्षा के काम में बड़ी सहायता मिलती है। नवीन
विद्या के सीखने मे पुराने भावो के साथ नये भाव मिलाये जाते
हैं अर्थात् उनमें सम्बन्ध उत्पन्न किया जाता है। ज्ञात के साथ
साथ अज्ञात का थोड़ा थोड़ा सम्बन्ध करते करते अज्ञात भी ज्ञात
हो जाता है।

मन के व्यापार के बारे मे हम फिर विचार करेगे। मन
की दो शक्तियो की व्याख्या हो चुकी है—प्रयोचन, जिसके
बल से मन वृत्तियो को चुनता है और ध्यान में रखता है,
और संसक्ति, जिसकी सहायता से वे वृत्तियाॅ और विचार जो

मन में प्रवेश करते है अव्यवस्थित रूप से नहीं घूमते किन्तु उसका उन विचारो से जो मन मे होते है नियनानुसार सम्बन्ध बँध जाता है। एक और शक्ति मन में होती है। वह सबसे मुख्य है और यदि मनुष्य के मन मे वह न हो तो मनुष्य इस संसार मे कुछ काम नहीं कर सकता। वह **शक्ति अविनाशत्व** है। जो कुछ अनुभव मन को किसी मार्ग-द्वारा होता है वह मन पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य छोड़ जाता है और मन उस प्रभाव की रक्षा करने की चेष्टा करता है। मन की इस अविनाशत्व की शक्ति के कारण हम यह कह सकते है कि हमारे मन में एक प्रकार का भडार है और हम कुछ मानसिक सम्पत्ति रखते हैं। जब आवश्यकता होती है हम उसका स्मरण करते हैं, भावो और विचारो का पुनरुज्जीवन करते है और अपने व्यवहार मे सफलता प्राप्त करते है। यदि हम अपने अनुभवो के प्रभाव को रक्षित और सचित न रख सकते तो हमारे पास कोई मानसिक पूँजी न होती और हमे किसी नये कार्य मे मानसिक सहायता न मिलती। अविनाश की इस शक्ति को स्मरण-शक्ति भी कहते हैं।

स्मरण-शक्ति का ज्ञान बहुत प्राचीन है। परन्तु पुराने और वर्तमान मनोविज्ञान मे इस शक्ति के विवरण मे कुछ मत-भेद है जिसका जानना आवश्यक है। यह मत-भेद कुछ मौलिक सिद्धान्तो मे भेद होने के कारण है। मत-भेद इस बात पर है कि अनुभव का रक्षण किस प्रकार होता है। पुराना विचार है कि जो कुछ अनुभव एक समय में होता है वह

ज्यों का त्यों मन के भण्डार में जमा हो सकता है। हमारे सविकल्पक विचार, भाव, प्रत्यक्ष ज्ञान ये सब वस्तुओं के समान है जो मन में जमा कर दिये जाते है। हम जैसे बैंक में जमा हुए धन में से निकाल सकते है उसी प्रकार विचार-सम्पत्ति में से विचारों का पुनरुज्जीवन कर सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मन को भण्डार मानना पड़ता है। अनुभवों को स्थिर वस्तु समझना पड़ता है। और इस सिद्धान्त के अनुसार पुनरुज्जीवन की क्रिया का यह अर्थ है कि जो पहला अनुभव था वह ज्यों का त्यों जमा में से निकाल-कर सामने प्रत्यक्ष रख दिया जाता है। असली बात यह है कि विचार, भाव, सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान कोई स्थिर वस्तुएँ नहीं है। वे तत्त्व नहीं है। वे वृत्तियाँ है, जो कि उत्पन्न होती है और चली जाती है। कोई भी वृत्ति प्रत्येक बात में किसी दूसरी वृत्ति के समान नहीं हो सकती। यदि हम किसी वस्तु के बारे में दो बार सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करे तो वे एक-से नहीं होते। अनुभव कभी स्थिर हो ही नहीं सकते। इस कारण उनका भंडार में जमा हो जाना मिथ्या है। वे मन पर प्रभाव अवश्य करते है और अनुभव हो जाने के उपरात मन में जो पूँजी बढ़ती है वह केवल यह प्रभाव है। यह प्रभाव एक ओर भौतिक मस्तिष्क पर पड़ता है और दूसरी ओर अशरीरी मन पर। मस्तिष्क और मन दोनों में परिवर्तन हो जाता है। मन इसी परिवर्तन या प्रभाव का ही रक्षण या संचय करता है।

जब हम यह कहते है कि मन में अविनाशत्व की शक्ति है तब हम यही समझते है कि वह इस प्रभाव का रक्षण कर सकता है न कि यह कि वह सब पुराने अनुभवो को ज्यो का त्यो जमा रखता है। यह हम अवश्य मानते है कि कोई अनुभव ऐसा नहीं होता जो कुछ न कुछ प्रभाव न छोड़ जाय। प्रभाव कितना ही हलका और दुर्बल क्यो न हो मन मे कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य कर देता है। कोई प्रतिपत्ति वृथा नहीं जाती है। इसलिए अध्यापक को यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि वह बालक को बुरी प्रतिपत्तियो से दूर ही रक्खे और जहाँ तक हो सके उसके सामने उत्तम व्यवहार ही उपस्थित करे, नहीं तो उस पर बुरी बातों का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ ही जायगा।

हम स्मरण के साथ शक्ति शब्द का प्रयोग करते आये हैं। इस शक्ति के नये और पुराने अर्थ को भी स्पष्ट कर देना चाहिए। शक्ति शब्द का अर्थ कोश मे नहीं बदला परन्तु स्मरण-शक्ति वाक्य में शक्ति शब्द को काम में लाते हुए जो हम पहले समझते थे वह अब नहीं समझते। पहले यह समझा जाता था कि स्मृति एक शक्ति है जो पुरानी बात को हमारे सामने लाती है। यदि यही हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि जिन बातों की आवश्यकता हमको सबसे अधिक है उन्हे बिना प्रयास ही हमारे मन के सामने आ जाना चाहिए। और यह भी होना चाहिए कि एक प्रकार की विद्या सीखने

से स्मृति मे ऐसा बल आ जाय कि दूसरे प्रकार की विद्या सीखने में सुविधा हो। किन्तु हम यह पाते है कि अगर कोई एक विषय में अच्छा है और पुरानी बातों को सुगमता से याद कर सकता है तो वह दूसरे विषय में ऐसा नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति मिलते है जो कि गणित-शास्त्र में पारङ्गत है, उन्हे गणित आता है परन्तु इतिहास मे अनभिज्ञ हैं। उन्हे इतिहास याद ही नहीं होता। असली बात यह है कि स्मृति कोई सर्वगत शक्ति नहीं है, बल्कि वह एक मानसिक क्रिया है और उसका काम विचार-श्रेणी पर निर्भर है। जिसकी विचार-श्रेणी गणित-शास्त्र के सिद्धान्तो से भरी है उसे इतिहास सीखने मे गणित-शास्त्र से कोई विशेष सहायता नही मिलती। इतिहास सीखने के लिए उसे दूसरी विचार-श्रेणी बनानी पड़ती है। इस सम्बन्ध में अब यह मत है कि स्मरण-शक्ति एक सर्व-ज्ञान-निष्ठ साधारण शक्ति न होकर अनेक शक्तियो का समूह कही जा सकती है। वहाँ भी शक्तियों का प्रयोग करते हुए हम इस पर जोर देगे कि स्मृति मानसिक क्रिया है। एक विचार-श्रेणी (जैसे गणित) की स्मृति-शक्ति में उन्नति होने से सब विचार-श्रेणियो (जैसे इतिहास, भूगोल) की स्मृति-शक्तियों में उन्नति नहीं हो जाती। एक विचार-श्रेणी की दक्षता दूसरी विचार-श्रेणी के सीखने में उतनी ही सहायता दे सकती है जितना सम्बन्ध दोनो विचार-श्रेणियों में होता है।

स्मृति के बारे मे ठीक ठीक हाल जानने के लिए वर्तमान काल मे बहुत-से प्रयोग और क्रियाएँ की गई है। मनोविज्ञान मे शायद ही ऐसा कोई विषय हो जिस पर अपना ध्यान परीक्षात्मक मनोविज्ञानवेत्ताओ ने न दिया हो। स्मृति की परीक्षाओ में समय और ध्यान दोनो ही बहुत लगते है तिस पर भी उन्होने इस विषय में रुचिपूर्वक परीक्षाएँ की है। कुछ निम्नलिखित बातो पर विशेष रीति से काम किया गया है—(१) **स्मृति का विस्तार**, (२) **स्मृति और विस्मृति**, (३) **हृदयस्थ करने की रीतियाँ**, (४) **प्रत्यभिज्ञा और पुनरुद्भावन**, (५) **स्मृति और अभ्यास**। हम केवल उन्ही प्रयोगो पर विचार करेंगे जो अध्यापक के कार्य पर प्रकाश डाल सकते है।

स्मृति के दो रूप माने गये हैं—एक तो **अनन्तर स्मृति** और दूसरी **स्थिर स्मृति**। कुछ प्रयोगो मे इनका जिक्र किया गया है इसलिए इस भेद को जानना आवश्यक है। जो कुछ याद किया गया हो उसका या तो तुरन्त ही पुनरुद्भावन किया जाता है या कुछ समय (कुछ घण्टे या दिन) बीत जाने के उपरान्त। वह स्मृति जिसके कारण हम तुरन्त पुनरुद्भावन कर सकते हैं उसे अनन्तर स्मृति कहते है और उसको, जिसके कारण कुछ समय बीतने के पश्चात् करते हैं, उसे स्थिर स्मृति कहते हैं। यह हो सकता है कि दो व्यक्तियो मे इन दोनो स्मृतियों की शक्ति में बहुत फेर हो।

(१) **स्मृति का विस्तार**—विस्तार केवल अनन्तर स्मृति का ही मालूम किया जाता है। स्मृति की क्रियाओं में विषयी को याद कराने के लिए सदा निरर्थक शब्दो के टुकड़े दिये जाते हैं जैसे 'कख, खच, जह, लन...'। सार्थक शब्द नहीं दिये जाते क्योंकि बहुत-सी विचारश्रेणियाँ बँधी हुई होने के कारण विषयी उन्हे उन सम्बन्धो की सहायता से याद कर लेता है। फिर एक विषयी को दूसरे की अपेक्षा ऐसा करने मे अधिक या कम सहायता मिल सकती है; और दोनों की तुलना नहीं की जा सकती। इस कारण निरर्थक शब्दो का प्रयोग करना उत्तम समझा गया है। बहुत-से शब्दो के टुकड़े ले लिये जाते है और यह विषयी के सम्मुख सुनाकर या दिखाकर उपस्थित किये जाते हैं। एक बार उपस्थित करने के उपरान्त उससे कहा जाता है कि जितने याद रहे हो दुहराओ। वह जितने अधिक टुकड़े दुहरा सकता है उतना ही उसका स्मृति-विस्तार अधिक होता है। अनन्तर स्मृति आयु के साथ बढ़ती है। बालक की स्मृति किसी समय युवा से अधिक नहीं होती। इसकी वृद्धि १३ वर्ष की आयु तक बहुत धीरे धीरे होती है। १३ से १६ वर्ष तक बहुत जल्दी होती है, और २२ से २५ वर्ष तक की अवस्था मे वह अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाती है। उसके उपरान्त कुछ समय बीतने पर थोड़ी थोड़ी घटने भी लगती है। अध्यापक के जानने योग्य एक बात यह भी है कि सात वर्ष का बालक ३ अक्षर से अधिक अक्षरों

के शब्द के हिज्जे ठीक नहीं कर सकता। बालकों को इमला लिखाते समय इसका ध्यान रखना चाहिए।

स्थिर स्मृति मे हमको याद करते समय विचार-सम्बन्ध बाँधने पड़ते है। जितने प्रबल यह सम्बन्ध बँध जाते है उतनी ही सुगमता से और अधिक समय तक कोई बात याद रह सकती है। जिन नियमो और प्रयोगो से विचार-सम्बन्ध बँधते है उनका उल्लेख हम पहले कर चुके है।

(२) हृदयस्थ करने की रीतियाँ—अध्यापक की दृष्टि से यह बात जानने के योग्य है कि यदि किसी गद्य के टुकड़े या कविता को कण्ठाग्र करना हो तो उसे किस रीति से करना चाहिए। कुल कविता या जितना गद्य याद करना हो उसे समस्त को कई बार दोहराकर याद करने की चेष्टा करनी चाहिए, अथवा यह अच्छा होगा कि उसके छोटे छोटे टुकड़े कर लिये जायँ और टुकड़ो को एक एक करके याद किया जाय। साधारण विश्वास यह है कि टुकड़े टुकड़े करके याद करने से सरलता से याद होता है और अधिक समय नहीं लगता। परन्तु परीक्षाद्वारा यह बात सिद्ध हुई है कि यह धारणा ठीक नहीं है। समस्त कविता या गद्य को दोहराने से वह अच्छी तरह याद होता है और समय भी कम लगता है। यह देखा गया है कि समस्त कविता लेकर याद करने की रीति २४० पंक्ति तक की लम्बी कविता के लिए उपयोगी है।

इस बात को जाँचने के लिए एक सरल प्रयोग किया जा सकता है। दो बराबर कठिनाई की कविताएँ या गद्य के टुकड़े लेने चाहिए। इस बात को देख लेना चाहिए कि दोनो की कठिनाई बराबर है। यदि एक मे बहुत कठिन शब्द हुए और दूसरा बहुत सरल हुआ तो परीक्षा ठीक नहीं हो सकती। दोनो के नाम क और ख कविता मान लीजिए। क को सम्पूर्ण रीति से याद करो। सम्पूर्ण कविता को बार बार आरम्भ से अन्त तक दोहराओ। जब यह विश्वास हो कि कविता हृदयस्थ हो गई है तो जितनी याद हो उसे लिख डालो। जितना समय लगा हो उसे लिख लो और जितनी बार दोहराना पड़ा हो उसे भी लिख लो। फिर थोड़े समय अपने मन को विश्राम दो। कुछ घण्टे बीतने के उपरान्त ख कविता को टुकड़े करके एक एक टुकड़े को दोहराओ। एक टुकड़े को इतनी बार दुहराओ कि विश्वास हो जाय कि वह हृदयस्थ हो गया। उसके उपरान्त दूसरे टुकड़े के साथ यही व्यवहार करो फिर तीसरे के साथ। जब सब टुकड़े हृदयस्थ हो जायँ तब कुल कविता को जहाँ तक याद हो लिखो। जितना समय इस सब में लगे और जितनी बार हर एक टुकड़े को दोहराना पड़े लिख लो। दोनो समयो को मिलाने से और दोनों का जितना भाग लिखा गया हो उससे पता लगेगा कि सम्पूर्ण रीति उत्तम है।

टुकड़ेवाली रीति में हर टुकड़े के अन्त को आगे के टुकड़े के आरम्भ से मिलाने के लिए विचार-सम्बन्ध बाँधना पड़ता है।

इसमें समय लगता है। अगर टुकड़े न किये जायँ तो यह सम्बन्ध बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। प्रायः यह देखा जाता है कि जब बालक किसी कविता को टुकड़े टुकड़े करके याद करते है तो एक टुकड़ा कह लेने के उपरान्त वह अटक जाते हैं। अगर आगे के टुकड़े का पहला शब्द उन्हे बता दिया जाय तो गाड़ी आगे चलने लगती है। विचार-सम्बन्ध अगर पुष्ट हो तो गाड़ी नहीं रुकती। फिर एक टुकड़े तो पृथक् याद करने मे यह होता है कि जब वह बार बार दुहराया जाता है तो विचार-सम्बन्ध उस टुकडे के अन्त के भाग मे और उसी के आरम्भ-वाले भाग मे बँधता है। यह विचार-सम्बन्ध समस्त के याद करने मे सहायक होने की जगह अड़चन डालता है। अगर वह उस टुकड़े के अन्त और दूसरे के आरम्भ में बँधे तो लाभ हो सकता है। यह अड़चन सम्पूर्ण रीति मे नहीं पड़ती। फिर सम्पूर्ण रीति मे सम्पूर्ण अर्थ भी विषयी के सामने रहता है। टुकड़े टुकड़े करके याद करनेवाली रीति में नहीं रहता।

सम्पूर्ण रीति मनोविज्ञान की दृष्टि से अवश्य उत्तम मानी जाती है परन्तु इसको बालको को याद कराने में प्रयोग करने के लिए कुछ बातो का विचार करना पड़ता है। सीखने और याद करने मे सीखनेवाले अथवा याद करनेवाले की रुचि का प्रश्न भी विचारणीय है। जब बहुत बड़ी कविता

या टुकड़ा याद करने को होता है तो बालक की रुचि बीच बीच में हटती है और वह ध्यान नहीं देता। उसे मानसिक थकावट भी मालूम होती है। लम्बा-चौड़ा कार्य देखते ही बालक हताश हो सकता है। इस सबको जानने के लिए भी क्रियाएँ की गई है और एक दो बातो का पता चला है। १२ वर्ष से ऊपरवाले लड़को के लिए सम्पूर्ण रीति बहुधा उत्तम पाई गई है। बालक-मात्र के लिए अगर २० लकीर से बड़ा टुकड़ा या कविता न हो तो सम्पूर्ण रीति लाभदायक होगी। गोपालस्वामी (Gopalaswami) ने एक मिली-जुली रीति बालको के लिए बताई है और वह बहुधा ठीक पाई जाती है। उसमे कविता को टुकड़ो मे पहले बाँट लिया जाता है फिर पहले एक टुकड़े को याद किया जाता है तब दूसरे टुकड़े को। इसके उपरात पहले और दूसरे दोनो टुकड़ो को मिलाकर सम्पूर्ण को याद किया जाता है। तब तीसरे टुकड़े को याद करते हैं और फिर पहले, दूसरे और तीसरे यह तीनो टुकड़ो को मिलाकर। इसी प्रकार आगे बढ़ते जाते हैं और सबको पूरा कर डालते है। चाहे कोई रीति काम में लाई जाय, ध्यान लगाये बिना बालक कभी नहीं याद कर सकता। इसलिए इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए।

याद करने के बारे में एक जानने योग्य बात और निश्चित की गई है। अगर मान लिया जाय कि हमको कुछ बातें याद करनी है, और समय की कोई न्यूनता नहीं है, तो आगे

दी हुई दोनो में से कौन-सी उचित होगी (१) सब बातें एक दिन बहुत बार दुहराकर याद कर डालना (२) थोड़ा थोड़ा प्रतिदिन दोहराकर कई दिन तक यह काम जारी रखना। यदि समय नहीं है तो एक दिन ही सब करना पड़ेगा। कुछ प्रयोग किये गये जिनमे याद करनेवाली बात को दोनो रीति से याद कराया गया। मान लीजिए कि ८ बार दोहराने से दी हुई बात याद हो जाती है। पहली रीति के अनुसार ८ बार दोहराने का काम एक ही दिन कर डाला गया और दूसरी रीति के अनुसार ४ दिन तक प्रतिदिन दो दो बार दोह-राया गया और इस प्रकार वह बात ८ बार दोहराई गई। इस प्रयोग से यह पता लगा कि जब याद करने का काम कई दिन में फैलाया गया तो ठीक और अधिक याद हुआ। परीक्षा के लिए तैयारी करने में यह बात ध्यान रखने योग्य है। अधिक समय मे फैलाकर याद करने में थकान कम होती है, विचार-सम्बन्ध पुष्ट बन जाते हैं और जो कुछ याद किया जाता है उसे मन में धीरे धीरे जम जाने का अवकाश मिल जाता है।

(३) विस्मृति—हम जो कुछ याद करते है, सीखते है या अनुभव करते है उसमे से बहुत कुछ समय बीतने से भूल जाते है। साधारण दृष्टि से यह बड़ी हानि की बात मालूम पड़ती है। परन्तु अगर विस्मृति न होती तो कदाचित् हमारे ःख का अन्त न होता। संसार मे अनेक शोक, दु.ख, हानि,

अपमान आदि के दूर करने का उपाय केवल विस्मृति है। बहुत-सी अनावश्यक बातें भी हम भूल जाते हैं जिनसे हमें लाभ ही होता है। प्राय: ऐसा होता है कि आवश्यक बातें सिखाने के लिए कुछ अनावश्यक बातें भी बीच में लानी पड़ती है। यह कुछ समय मे भूल जाती हैं। अगर यह न भूल जातीं तो आवश्यक को लिखते या बताते समय यह बहुत-सी अनावश्यक बातें वृथा बीच मे आकर विघ्न डालतीं।

विस्मृति के बारे में भी परीक्षाएँ की गई हैं और यह पता चला है कि ज्यों ज्यो समय बीतता है त्यो त्यो भूलने (विस्मृति) की गति कम होती जाती है। सबमें अधिक बात याद करने के उपरांत ही भूल जाती है। एबिगहाउस (Ebbinghouse) ने पता लगाया है कि जो कुछ याद किया जाता है उसका आधा भाग पहले आध घंटे में भूल जाता है, दो तिहाई ८ घटे मे और $\frac{4}{5}$ भाग एक महीने में। भूलने की गति को देखकर दोहराने की आवश्यकता तुरन्त प्रतीत हो जाती है। याद कर लेने के थोड़े ही समय उपरात ही फिर पुनरावृत्ति कर लेनी चाहिए क्योंकि उसी समय में सबसे अधिक विस्मृति होती है। जितना समय याद करने में देना चाहिए उसका आधा पुनरावृत्ति के लिए भी रखना चाहिए।

स्मृति और अभ्यास—अभ्यास से स्मृति मे उन्नति हो सकती है या नहीं? अगर हो सकती है तो उसका प्रभाव सर्वव्यापी है या किसी विशेष ओर ही पड़ता

है ? यह भी प्रश्न ऐसे है कि जिनका उत्तर अध्यापक जानना चाहता है। अगर अभ्यास से सर्वव्यापी उन्नति हो सकती है तो एक कोई विषय याद करने से दूसरे सब विषयों पर उसका प्रभाव पड़ सकता है। परन्तु हम स्मृति को सर्वव्यापी शक्ति नहीं मानते। इसलिए ऐसा होना सम्भव नहीं। परीक्षाओ से भी यही सिद्ध होता है। हाँ, एक ही प्रकार के काम मे अभ्यास से स्मृति मे उन्नति पाई जाती है। अगर कविता याद करने मे किसी व्यक्ति को अभ्यास कराया जाय तो कविता याद करने के लिए उसकी स्मृति मे उन्नति हो सकती है परन्तु गणित याद करने में नहीं। हम कह चुके हैं कि स्मृति विचार-सम्बन्ध पर निर्भर है। एक विचार-श्रेणी की दक्षता दूसरी विचार-श्रेणी के सीखने मे उतनी ही सहायता देती है जितना कि सम्बन्ध दोनो विचार-श्रेणियो में होता है। गणित-पंडित को इतिहास सीखने में उतनी ही सहायता मिल सकती है जितना कि सम्बन्ध गणित और इतिहास की विचार-श्रेणी में है।

इस विषय का अन्वेषण करने के लिए एक प्रयोग किया गया है और अध्यापक उसे अपने दरजो में कर सकते हैं। मान लो दरजे मे ३० लड़के हैं। इन्हे तीन बराबर के समूहो में बॉटो। हर एक समूह मे दस दस लड़के होगे। मानसिक शक्ति मे एक समूह के लड़के दूसरे समूहवालो के बराबर होने चाहिए। ऐसा न करना चाहिए कि छॉटकर अच्छे लड़के

एक में, और मूर्ख दूसरे में, कर दिये जायँ। अगर समूह बाँटने में कठिनाई पड़े तो कुछ दिन याद करने का काम सम्पूर्ण दरजे से कराया जाय और यह पता लगा लिया जाय कि कौन कौन-से अच्छे, कौन कौन-से मध्यम और कौन कौन-से लड़के मन्द हैं। इन समूहों का नाम **क**, **ख**, **ग** रक्खो। **क** खंड को $\frac{1}{2}$ घंटा प्रतिदिन कविता हृदयस्थ करने का काम एक महीने तक दो। **ख** खंड को $\frac{1}{2}$ घंटा प्रतिदिन किसी भाषा का कोश याद करने का काम महीने भर तक दो। **ग** खंड से इस प्रकार का कोई काम न लो। इस **ग** खंड को किसी प्रकार का अभ्यास नहीं मिलता। एक महीना बीतने के उपरान्त इन तीनों खंडों को कोई हृदयस्थ करने का काम दो। तीनों खंडों की क्रिया की तुलना करने से यह पता लग सकता है कि किसने कैसा किया। अभ्यास से अगर लाभ होता है तो **क** और **ख** को **ग** से उत्तम करना चाहिए। अब **क** और **ख** में वही उत्तम करता है जिसका पहला अभ्यासवाला काम परीक्षावाले काम के समान हो। अगर कविता याद करने का काम दिया गया है तो **क** खंड सबसे अच्छा करेगा। अगर याद करने का काम बिलकुल नया है, इतना नया है कि **क** और **ख** में पहले अभ्यास करनेवाले काम की विचार-श्रेणियों में और नये काम की विचार-श्रेणियो में कुछ भी समानता नहीं है तो यह भी सम्भव है कि क और ख और ग सभी बराबर निकले या ग, क और ख से कुछ अच्छा

निकले। कुछ न कुछ विचार-श्रेणियों में समानता निकल ही आती है इसलिए ग की अपेक्षा क और ख कुछ अच्छा कर निकलते है। बालको की महीने भर तक शारीरिक और मानसिक स्थिति भी ठीक होनी चाहिए। और बहुत-सी मनोवैज्ञानिक बाते ऐसी है जिनका प्रभाव पड़ सकता है। हर एक मनोवैज्ञानिक क्रिया और परीक्षा मे बहुत-सी बातें बीच मे आती है जिनका ध्यान परीक्षक को रखना पड़ता है और जिनके ध्यान मे रक्खे विना प्रयोग वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक नहीं समझा जा सकता। मनोवैज्ञानिक क्रियाएँ इतनी सरल नहीं है जितनी साधारणत. दिखाई पड़ती है। बहुत-सी कठिनाइयाँ प्रयोग करते समय बीच में आ जाती है जिनका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सकता। उनके लिए परीक्षात्मक मनोविज्ञान की पुस्तके देख लेना चाहिए।

रटाई—स्मृति के बारे के विचार करते समय रटाई का ध्यान सबके सामने आता है। रटाई से अधिकतर यही समझा जाता है कि कोई बात विना समझे बूझे बार बार कहकर कंठस्थ करना। विना समझी बूझी हुई बात का मनुष्य कभी कोई प्रयोग नहीं कर सकता और इसलिए इस प्रकार की रटाई से कोई लाभ नहीं है। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि इस प्रकार से जो लड़के अपना पाठ रट लेते है वे बीच मे अटक जाते हैं और सोचकर बात को नहीं निकाल सकते। जहाँ गाड़ी अटकी वहीं मामला समाप्त हुआ। किसी बात को

स्मरण करने के लिए विचार-सम्बन्ध बनाने की आवश्यकता है। अगर यह बन गये है तो इनके द्वारा याद की हुई बात का पुनरुद्भावन हो सकता है। रटाई के साथ अगर विचार-सम्बन्ध नहीं है तो वह अवश्य वृथा है। परन्तु रटाई अर्थात् पुनरावृत्ति शिक्षा में आवश्यक है। एक बार ही पढ़ लेने से विचार-सम्बन्ध बिलकुल पुष्ट नहीं हो सकते इसलिए नई बात को बार बार पढ़ना पड़ता है और कई मार्ग-द्वारा (जैसा कि नये शब्द के सीखने में किया जाता है) उसे मन मे पहुँचाना पड़ता है। शिक्षा-शास्त्र इस प्रकार की समझ-बूझ की रटाई के विरुद्ध कदापि नहीं है। तोता-रटाई से अवश्य कोई लाभ नहीं हो सकता।

१०—स्वभाव या आदत

X. Habits

अगर किसी व्यक्ति से पूछा जाय कि स्वभाव क्या है तो वह कुछ न कुछ बात उसके बारे मे अवश्य बता सकेगा। साधारण रीति से स्वभाव का अर्थ सभी जानते है। आचार्यों ने अपने विचारो को स्पष्ट करने के लिए इसकी कितनी ही परिभाषाएँ दी है। परन्तु कोई एक परिभाषा सर्वाङ्गपूर्ण नहीं मालूम पड़ती। कुछ मतभेद भी है। परन्तु स्वभाव के बारे मे कुछ विचार ऐसे है जिन्हे सभी सत्य मानते है। स्वभाव की शक्ति मनुष्य-मात्र मे होती है। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो यह कह सके कि उसकी कोई भी आदते नहीं है चाहे वह ज्ञानविषयक आदतें हो चाहे शारीरिक। फिर यह भी बात है कि सब मनुष्यो की आदतें एक-सी नही होतीं और बराबर भी नहीं होतीं। यह बात सब मानते हैं कि आदतें वह शक्तियाँ हैं जो जन्म से नहीं मिलतीं बल्कि उनका उपार्जन जीवन में किया जाता है। कुछ व्यवहार की रीतियाँ प्राकृतिक होती है परन्तु यह आदते नहीं हैं। मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ उसकी आदत नहीं कहलातीं। मनुष्य अपने जीवन की परिस्थिति में रहने मे कारण आदतें ग्रहण करता है।

आदत या स्वभाव की यह विशेषता है कि किसी प्रकार की आदत पड़ जाने के उपरान्त व्यवहार करने के लिए प्राणी को सोचना नहीं पड़ता। उत्तेजना होते ही तत्काल ही बँधा हुआ व्यवहार हो जाता है—मानो प्राणी यंत्र हो। स्वाभाविक व्यवहार के सीखने में परिश्रम पड़ता है, ध्यान देना पड़ता है, सोच-विचार करना पड़ता है—कहीं अधिक कहीं कम। परन्तु सीख जाने के उपरान्त व्यवहार यन्त्रवत् हो जाता है। अगर हम अपने जीवन के साधारण कामो पर ध्यान दें तो हमें यह प्रतीत होगा कि बहुत से काम ऐसे होते है जिनमे श्रमपूर्वक ध्यान देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। खाने-पीने के काम, कपड़े पहिरने के काम, उठना-बैठना, मिलने-जुलने की रीतियाँ—इस प्रकार की बहुत बातें हममे 'स्वाभाविक' है। यह सब व्यवहार हर एक मनुष्य मे एक-से नहीं होते और सब सीखने से आते है। हो सकता है कि कुछ सीखने का काम ऐच्छिक रहा हो और कुछ अनुकरण से आया हो। ऐसा भी हो सकता है कि सीखने में प्रयासपूर्वक ध्यान देना पड़ा हो। बाईसिकिल चढ़ना सीखने में पहले-पहल कितनी कठिनता पड़ती है! ध्यानपूर्वक शरीर सँभालकर चढ़ना पड़ता है, फिर शरीर को ध्यान से साधना पड़ता है, इत्यादि। सीख लेने के उपरान्त वही कष्टसाध्य काम यन्त्रवत् हो जाता है।

मनोविज्ञानवेत्ताओ मे जेम्स (James) ने मनुष्य के जीवन मे आदतो का महत्त्व सबसे अधिक माना है। उनका यह कथन

है कि हम लोग अपनी आदतो के दास है। उनके अधीन होने के कारण हमारा चरित्र आदतो का समूह माना जाता है। जैसी आदते मनुष्य की पड़ जाती है उसी के अनुसार उसका जीवन बन या बिगड़ जाता है। इसमे बहुत कुछ साधारण रूप से सत्य प्रतीत होता है। परन्तु इन विचारो को पूर्ण सत्यता तभी समझी जा सकती है जब कि हम इस बात का निश्चय कर लें कि किन किन व्यवहारो को आदत मे समझना उचित है। एक प्रकार की परिभाषा के अनुसार, जिसका कि हम कुछ ऊपर वर्णन कर चुके है, आदत मे हम उन्हीं क्रियाओ को सम्मिलित करेगे जिन्हे कि हम बिना सोचे विचारे करते है और जो कि सदा एक समान ही होती हैं। मान लीजिए कि हमे एक लहजे से बोलने की आदत है। हम उस प्रकार बोलने के लिए कोई प्रयास नहीं करते और जब बोलने की क्रिया करते है तो हमारा बोलने का लहजा सदा एक समान ही रहता है। हमारी लिपि भी इसी प्रकार आदत के कारण सदा एक-सी रहती है। किसी दूसरी भाषा की लिपि की नकल करने को कहा जाय तो हमारी आदत हमें कोई सहायता नहीं देती। उस नई लिपि को लिखने के लिए हमे पूरा प्रयास करना पड़ता है। 'आदत' शब्द हमारी सभी प्रकार की क्रियाओ के लिए काम मे लाया जाता है। हम लोग 'सफाई की आदत', 'आज्ञा पालन करने की आदत', 'स्पष्ट तर्क करने की आदत' इत्यादि वाक्यो का बराबर प्रयोग किया करते है।

अगर मौलिक दृष्टि से स्वभाव के ऊपर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि जब कोई प्रवृत्ति किसी विशेष उत्तेजना से बराबर जागृत की जाती है और जब उत्तेजना का रूप बँध-सा जाता है तब हमारी प्राकृतिक प्रवृत्तियो की सेवा के लिए आदतें उपस्थित होती हैं। एक तरह से सोचिए तो बँधा हुआ व्यवहार हो जाने के कारण स्वभाव मनुष्य की बुद्धि के विरुद्ध है। मनुष्य का ज्ञान और उसकी बुद्धि उसको अपने व्यवहार को नई अवस्थाओ के अनुकूल बनाने को प्रोत्साहन देती है, परन्तु इसके विपरीत आदत उसके व्यवहार को स्थिर और सदा एक समान बनाये रखने को अग्रसर होती है। व्यवहार को स्थिर बनाने के कारण आदतें मनुष्य के जीवन में उपयोगी है। जहाँ विचार की आवश्यकता नहीं है वहाँ आदते प्रयास को बिलकुल कम कर देती है, समय को बचाती हैं, और विचार-शक्ति को उत्तम काम में लगाने के लिए बचाये रखती है। अगर हमें चलने-फिरने के लिए, खाने-पीने के लिए और सारे स्वाभाविक कामो के करने के लिए विचार-शक्ति को व्यय करना पड़े तो जीवन कठिन और दुखमय हो जायगा। आदते हमको ठीक मार्ग पर बिना प्रयास चलने के लिए प्रस्तुत करती हैं और एक-सी ही बात के लिए बार बार सोचने में समय नष्ट करने से बचाती है।

हमारे सारे व्यवहार और क्रियाओं का संचालन आदतो-द्वारा हो सकता है। कुछ आदतें शारीरिक और कुछ ज्ञान-विषयक

होती हैं। चलने-फिरने से लेकर जितने बड़े से बड़े शारीरिक काम हम समाज में करते हैं, और बोलने की रीति से लेकर गणित के प्रश्न शुद्ध और स्पष्ट रीति से करने तक सब काम जो बालक स्कूल मे कर सकता है,—ये सब कार्य आदत से सम्बन्ध रखते है। स्कूल का एक मुख्य उद्देश्य यह है कि बालक मे उत्तम आदतो का सङ्गठन करे जिससे उसका जीवन सदाचारी और समाज के लिए लाभदायक हो। अब हम आदतो के सङ्गठन पर विचार करेंगे।

हम कह चुके है कि कोई भी प्रतिपत्ति, चाहे कितनी ही दुर्बल क्यो न हो, मन और मस्तिष्क पर कुछ न कुछ असर अवश्य छोड़ जाती है। वृथा कभी नही जाती। प्राणी को जितने अनुभव होते है सभी उस पर अपना थोड़ा-बहुत प्रभाव छोड़ ही जाते हैं। मस्तिष्क की बनावट कुछ कोमल होती है और ज्ञान का प्रवाह जिधर से होता है उधर मस्तिष्क मे कोई न कोई चिह्न पड़ जाता है। जब उसी मार्ग से ज्ञान का प्रवाह बार बार होता है तो वह चिह्न गहरा और पक्का हो जाता है। और उसके उपरान्त ज्ञान के उसी ओर रहने की सम्भावना अधिक रहती है। थोड़े समय मे व्यवहार का मार्ग ऐसा बँध जाता है कि प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती। हर एक अनुभव अपना असर मन पर छोड़ जाता है चाहे वह बुरा हो चाहे अच्छा। अच्छे और बुरे व्यवहार दोनो की आदत पड़ती जाती है। यदि यह संसार आदर्श होता तो सम्भव था कि

बालक के सामने केवल उत्तम ही अनुभव आते और धीरे धीरे उसमे अच्छी ही आदते बनतीं। परन्तु संसार आदर्श नहीं है। उसमे बुरी भली सभी प्रकार की बाते है और बालक पर भले और बुरे अनुभव दोनो असर करते रहते हैं। उत्तम आदतो का सीखना आवश्यक है परन्तु बुरी आदत जो पड़ गई हो उसका छुड़ाना भी आवश्यक है। अध्यापक का काम केवल भली आदतें बनाना ही नहीं है बल्कि बुरी आदतो को तोड़ना भी है। आदत जितनी ही पुरानी हो जाती है उतनी ही उसके छोड़ने में कठिनाई होती है। मस्तिष्क पर जितना गहरा असर होता है आदत भी उतनी ही प्रबल होती है। परन्तु एक बात ध्यान रखने योग्य है। मस्तिष्क और मन की कोमलता बालकपन मे अधिक होती है। ज्यो ज्यो आयु बढ़ती जाती है त्यों त्यों मन ठस होता जाता है। बालकपन में नये अनुभव का प्रभाव शीघ्र होता है और पुराने प्रभाव शीघ्र ही मिटाये भी जा सकते है। आयु बढ़ने के उपरान्त नई आदत को सीखना और पुरानी को छोड़ना (चाहे वह बुरी हो या भली) कठिन हो जाता है। बालकपन मे मस्तिष्क की वृद्धि होती रहती है और नई आदतें सीखने मे कठिनता नहीं पड़ती। जब वृद्धि रुक जाती है तो पुरानी आदत को छोड़ना और नई को सीखना बहुत कठिन हो जाता है। कहते हैं कि बीस वर्ष की आयु तक शारीरिक आदतें—खाने-पीने, कपड़े पहनने के ढङ्ग, बोलने का लहजा, उच्चारण,—सब स्थिर हो जाती

है। इसी आयु तक या २५ वर्ष तक सामाजिक व्यवहार की आदते भी पक्की हो जाती है। इसके उपरान्त केवल कुछ मानसिक अथवा ज्ञान-विषयक आदतो मे परिवर्तन हो सकता है। ३० या ३२ वर्ष की आयु तक जीविका-सम्बन्धी आदते भी स्थिर हो जाती है और मनुष्य को अपनी सब आदतो के लिए, चाहे वह बुरी हो चाहे भली, एक पक्षपात होने लगता है। उसकी मानसिक स्थिति कुछ ऐसी हो जाती है कि वह इतना पक्षपाती हो जाता है कि दूसरी नई आदतों का सीखना प्रायः व्यर्थ या अनुचित समझने लगता है।

आदतो के बनाने के लिए, चाहे वह शरीर-सम्बन्धी हो या ज्ञान-विषयक हो, जेम्स ने कुछ नियम बताये है जिन्हे अध्यापक के लिए जानना आवश्यक है—

(१) 'जितनी प्रबलता और दृढ़ता से हो सके अपने आदत बनानेवाले व्यवहार को आरम्भ करो। जिस ओर आदत बनने का मार्ग हो उससे विरुद्ध या किसी दूसरी ओर ध्यान न जाने पावे। जिस ओर जाना है उस ओर सारी मानसिक शक्ति लगा दो।' बहुत-से लोग नई आदत को डालने के लिए या पुरानी को तोड़ने के लिए प्रतिज्ञा कर लेते हैं, और अपनी प्रतिज्ञा का हाल अपने मित्रो को बता देते हैं जिससे यदि वे प्रतिज्ञा के विरुद्ध काम करने लगे तो उन्हे लज्जा और ग्लानि हो। बहुत-से लोग दृढ़ प्रतिज्ञा करके तम्बाकू, शराब आदि बहुत-से

दुर्व्यसन छोड़ सकते हैं। आरम्भ करने के लिए ठीक समय अवश्य चुनना चाहिए। जिस समय कोई अनुकूल उत्तेजना मिल जाती है उसी समय प्राणी प्रतिज्ञा कर बैठता है। प्रतिज्ञा करने के उपरान्त अगर अनुकूल अवसर सामने आते रहे (अनुकूल अवसर लाने की उस व्यक्ति को चेष्टा भी करनी चाहिए) तो आदत बन जायगी।

(२) 'जब तक कि नई आरम्भ की हुई आदत जड़ न पकड़ ले या पुरानी जड़ से उखड़ न जाय तब तक अभ्यास में कोई बाधा या व्यतिक्रम न होने दो।' किसी बात के बनने में समय अधिक लगता है, व्यवसाय की आवश्यकता पड़ती है परन्तु बिगड़ने मे कुछ भी नहीं लगता। एक बार का बिगड़ना दस बार के बनने के बराबर होता है। बिगड़ने या विघ्न डालनेवाली बातो को बीच में आने ही न दो। केवल अनुकूल उत्तेजनाये और अनुकूल अनुभव ही सामने आवे। प्रतिकूल बातो को पास फटकने ही न देना चाहिए। बहुधा ऐसा होता है कि शराबी मनुष्य मदिरा पीना छोड़ने का निश्चय कर लेता है, पांच सात दिन नहीं पीता। एक दिन अकस्मात् उसकी पुरानी कुसंगत की मित्र-मडली एकत्रित हो जाती है और ७ दिन की न पीने की डाली हुई आदत एकदम नष्ट हो जाती है। जब तक कि स्वभाव स्थिर न हो जाय प्रतिकूल बातो को दूर रखना और चरित्र को दृढ़ रखना बहुत आवश्यक है।

(३) 'जिस आदत के डालने की या बुरी आदत के परित्याग करने की प्रतिज्ञा की है उसके लिए जो व्यवहार या कार्य करने की आवश्यकता हो उसे ज्यो ही अवसर सामने आवे ग्रहण करो और काम करते चलो'। अगर अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहते हो तो ज्यो ही अनुकूल अन्त:क्षोभ की प्रेरणा हो त्यो ही काम करो। केवल विचार करने से कुछ नहीं हो सकता, कार्य करना आवश्यक है। विचार निश्चय करने मे असली कठिनाई नहीं होती। असली कठिनाई अपनी प्रतिज्ञा को कार्य में परिवर्तित करने मे होती है। बहुतेरे लोग प्रतिदिन मनसूबे बाँधा करते है। अच्छी अच्छी बाते करने के विचार करते हैं, प्रतिज्ञा भी कर डालते है। पर जब कार्य करने का समय आता है तब "आज नही कल से" यह कहकर टाल देते हैं। इस प्रकार के उद्योग से स्वभाव नहीं बन सकता। व्यवसाय की आवश्यकता पड़ती है। कार्य करने का व्यवसाय जिस व्यक्ति मे नहीं है वह केवल मनमोदक लूट सकता है, सुचरित्र व्यक्ति नहीं बन सकता। बार बार कार्य करते करते फिर व्यवसाय की आवश्यकता नहीं पड़ती परन्तु आरम्भ में बार बार व्यवसाय का प्रयोग करना आवश्यक है।

(४) 'बालको को आदत डालने के लिए केवल कोरा उपदेश न दो। प्रत्याहृत बाते बालको को नही सुहाती।' अध्यापक बालको को प्राय: आचार-युक्त बातें सुनाया करते है। कभी बालक ध्यान देते हैं, कभी नहीं। बालको का ध्यान साकार

और अभिव्यक्त बातों से अधिक आकर्षित होता है। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि जब कोई अनुकूल अवसर उपस्थित हो उस समय चूके नहीं और बालकों को आचार-युक्त कार्य मे लगाये। एकदम कार्य में लगा देना उपदेश देने की अपेक्षा अधिक लाभदायक होगा। दूसरी बात यह भी है कि केवल उपदेश देने से अध्यापक का काम नहीं चलता, उसे स्वयं उत्तम व्यवहार करके बालकों के सामने आदर्श रखना चाहिये। यदि वह कहे भी नहीं किन्तु उत्तम व्यवहार उनके सम्मुख उपस्थित किया करे तो बालक अनुकरण करेंगे और उनमें उस व्यवहार की आदत पड़ जायगी। स्पष्ट और बड़े बड़े अक्षर लिखने की आदत बालकों को डालने की रीति यही है कि अध्यापक स्वयं स्पष्ट और अच्छा लिखकर उनको बतावे। बालकों से व्यवहार कराना बहुत आवश्यक है। अध्यापक को केवल इस बात से सन्तोष न कर लेना चाहिए कि बालकों से एक प्रकार का व्यवहार करने को कह दिया गया है और उन लोगों ने जान लिया है कि उन्हे उपयुक्त व्यवहार करना चाहिए। उसे उनसे असली व्यवहार कराना चाहिए। अनुकूल अवसर आने पर ही व्यवहार कराया जाय नहीं तो बालक रुचि-पूर्वक उस व्यवहार को न करेंगे।

(५) 'थोड़ा थोड़ा अभ्यास प्रतिदिन करो जिसमें आदत के अनुसार कार्य करने की शक्ति जागृत रहे'। जिस शस्त्र से बराबर काम लिया जाता है वह तीव्र रहता है और जो रक्खा

रहता है उसमे मोर्चा लग जाता है और काम पड़ने पर अपना कार्य नहीं कर सकता। अगर किसी आदत को स्थिर-रूप से अपना सेवक बनाना हो तो उसके अनुसार प्रतिदिन थोड़ा कार्य करो। किसी आदत के पड़ जाने के उपरान्त या किसी व्यवहार के सीख लेने के पश्चात् उसे इस विचार से बिलकुल वन्द न कर देना चाहिए कि जब उसका काम पडेगा तब उसका प्रयोग कर सकेगे। अभ्यास बड़ा आवश्यक है। प्रयास-शक्ति को जाग्रत रखना चाहिए नहीं तो काम पड़ने पर पछताना पड़ता है। शान्ति के समय में फौज को कवायद कराई जाती है और वहुत-सी उन वातो का, जिनका प्रयोग उन्हे लड़ाई मे करना पड़ता है, अभ्यास कराया जाता है, और इस प्रकार उनकी प्रयास-शक्ति जाग्रत रक्खी जाती है जिससे कि लड़ाई के समय वे कार्य मे तत्पर हो सके। छोटी छोटी वातो में उचित परिश्रम करने की वान वचपन से डलवानी चाहिए। मनुष्य अगर वालकपन मे छोटी वातो में प्रयास का प्रयोग किये होता है तो युवक होकर वह वड़ी वातो मे भी प्रयास कर सकता है और अपने को सदाचारी वना सकता है।

११—भावना-शक्ति

XI. Imagination

साधारण रीति से भावना-शक्ति के बारे में सभी लोग कुछ न कुछ जानते है परन्तु भावना की परिभाषा करना कठिन है। एक कारण यह भी है कि भावना का असली अर्थ समझने के लिए प्रतिमा-कल्पना को जानना और दोनो में भेद जानने की आवश्यकता है। कुछ लोग भावना और प्रतिमा-कल्पना दोनो को एक ही समझते है। जब हमारी इन्द्रियों को ज्ञान न होते हुए हमारे मन के सामने एक प्रतिमा आती है तो हम यह कहते हैं कि हम प्रतिमा-कल्पना कर रहे है। प्रतिमा-कल्पना के लिए उसी समय साथ साथ ऐन्द्रिक ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। मान लीजिए कि हम कपड़े पहनकर स्कूल की ओर जा रहे है। रास्ते में हम अपने स्कूल के कमरे का ध्यान कर सकते हैं। दरजा हमारे सामने लगा हुआ है, लड़के बैठे है, हम श्यामपट पर कुछ लिख रहे हैं इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार के दृश्य की प्रतिमा बिना उस दृश्य के सन्मुख होते हुए भी हमारे मन के सामने आ जाती है। हम स्कूल के घंटे की ध्वनि को कल्पनारूप से सुन भी लेते हैं। घंटा बजता नहीं है परन्तु उसकी ध्वनि की प्रतिमा हमारे मन में आ जाती है।

जैसा हम पहले स्मृति के अध्याय मे कह आये है यह प्रतिमा दृष्टि की ही बातो के बारे मे नहीं हो सकती बल्कि स्पर्श, श्रवण, घ्राण सभी के बारे मे हो सकती है। इन प्रतिमाओ के साथ थोड़ा थोड़ा-सा अन्त क्षोभ भी हम अनुभव करते है— कभी अधिक कभी कम और कभी बिलकुल नहीं। प्रतिमा यदि हर्षजनक होती है तो मन प्रसन्न होता है और अगर वह क्षोभ दिलाती है तो दुःख होता है। किसी पुरानी दुखदायी घटना की प्रतिमा सामने आते ही रोगटे खड़े हो जाते है और दिल धड़कने लगता है। खाने की किसी मधुर वस्तु की प्रतिमा मुँह में पानी ले आती है।

भावना इसी प्रकार की, किन्तु प्रतिमा-कल्पना से थोड़ी पृथक्, मानसिक क्रिया है। भावना से अधिकतर यह समझा जाता है कि कुछ मानसिक कल्पना की गई है। भावना प्रतिमा की तरह केवल पुराने अनुभव का नमूना ही नही है बल्कि मानसिक कल्पना से उसमें कुछ नई बाते भी रक्खी गई हैं। इससे यह अर्थ नहीं हुआ कि भावना और प्रतिमा-कल्पना की क्रियाओ मे कोई जाति-भेद है। भावना होने के लिए प्रतिमाओ का होना आवश्यक है। परन्तु भावना मे मन उन प्रतिमाओ को कुछ न कुछ नई रीति से मिश्रण करता है और एक ऐसी प्रतिमा या कल्पना सामने उपस्थित कर देता है जो कि पुरानी प्रतिमाओ से पृथक् होती है। सच पूछिए तो हम प्रतिमाओ के दो भेद मान सकते है, एक तो वह कि

जिसमें पुरानी घटना या पुराने अनुभव का ज्यो का त्यो पुनरुद्भावन हो, और दूसरा वह कि जिसमे पुराने अनुभव के अङ्गो का इस प्रकार मिश्रण किया जाय और सजाया जाय कि जिससे एक नई प्रतिमा उत्पन्न हो जाय। पहले प्रकार की प्रतिमा-कल्पना को भावना कभी नहीं कहेगे परन्तु दूसरे प्रकारवाली को अवश्य भावना समझेगे।

भावना प्रतिमा-कल्पना से उच्च श्रेणी की मानसिक क्रिया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रतिमा-कल्पना निकम्मी है या ऐसी क्रिया है जिसका प्रयोग न कराना चाहिए। प्रतिमा-कल्पना अर्थात् पुराने अनुभव का ज्यो का त्यो प्रतिमा रूप में पुनरुद्भावन तो ऐसी क्रिया है जिसका प्रयोग स्कूल के कामों में वालको से वहुत-से विपयो मे कराया जाता है। शब्दो के हिज्जे करने में, पुरानी तसवीर या देखे हुए नकशे को खींचने मे और इसी प्रकार की अन्य वातो में इसका प्रयोग करते है। परन्तु वालको के मन को यहीं न रोक देना चाहिए। उनसे भावना कराना आवश्यक है। भावना को तो ज्ञानियो ने मन की उत्पादक शक्ति माना है। इस उत्पादन में पुरानी प्रतिमाएँ काम देती है, परन्तु जो ढाँचा तैयार होता है वह नया होता है। उत्पादन की श्रेणियाँ अवश्य हैं। वालक के लिए जानी हुई और अनुभव की हुई वातो से एक सरल कहानी वना डालना वड़े उद्योग की वात है, परन्तु वड़े और पढ़े-लिखे पुरुषो के लिए एक नये उपन्यास की रचना ही उत्पादन

गिना जायगा। उत्पादन करने में कहीं पुरानी प्रतिमाओं का बहुत उलट-फेर किया जाता है और कही कम। परन्तु जहाँ नवीनता होगी वहीं उसे भावना कहना पड़ेगा।

भावना मे पुराने अनुभवो का मिश्रण किसी उद्देश्य विशेष से होता है किन्तु कभी कभी वह मिश्रण बिलकुल ऊटपटॉग भी हो सकता है। भावना-शक्ति की क्रिया के लिए कोई बँधे हुए नियम नही हो सकते। मन जब भावना करने पर प्रस्तुत होता है तभी मन-मानी बातो को जोड़ना आरम्भ कर देता है। यह कहना असत्य न होगा कि वह जहॉ से चाहता है वहीं से विचारो को लेकर एक नई बात उत्पन्न कर देता है। सबसे अधिक असम्भव बातो का मिलान तो स्वप्न में होता है। अनिद्र स्वप्न की अवस्था मे अर्थात् जाग्रत अवस्था मे शेखचिल्ली की तरह हम लोग जमीन आसमान के कुलावे खूब मिलाया करते हैं और मनमानी बातों का मिश्रण करने लगते है। अलादीन के दीपक की तरह हमारा मन भी सहज ही मे महल तैयार कर सकता है। बहुत अनिद्र स्वप्न की आदत अच्छी नहीं होती और जो व्यक्ति बहुत ऐसा करता है वह जीवन मे अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। क्योकि उसे मन-मोदक लूटने की बहुत आदत पड़ जाती है। परन्तु जब भावना किसी उद्देश्य से कोई नई युक्ति सोच निकालने के लिए लगाई जाती है तब वह लाभदायक होती है। कवि, चित्रकार या इञ्जीनियर की भावनाएँ लाभकारी हो सकती है। इनमे भी बहुत-से अनुभवो

के अंशो को एकत्रित करके मिश्रण करते हैं परन्तु यह मिश्रण स्वप्न देखनेवाले के मिश्रण से कुछ भिन्न होता है। वे जिस भाव और प्रतिमा को अपना उद्देश्य पूरा होने के लिए आवश्यक समझते हैं वही उनकी भावना में आ सकता है। जो प्रतिमा या भाव उनके निर्दिष्ट उद्देश्य से मेल नहीं खाते, वे उनके चेतना-प्रवाह में नहीं घुस सकते।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि अध्यापक को बालको की भावना-शक्ति को किस प्रकार बढ़ाना चाहिए जिससे उन्हें लाभ हो। परन्तु इससे पहले हम भावना का जाति-विभाग करना आवश्यक समझते हैं।

सरल पुनरुद्भावन को हम भावना नहीं कहेंगे। जहाँ नई बात का उत्पादन होगा वहीं हम भावना शब्द का प्रयोग उचित समझते है। भावना को इस उत्पादन की दृष्टि से देखते हुए हमे दो जाति एकदम स्पष्ट दिखाई दे सकती है। हम कह चुके है कि उपन्यास लिखने में और जो कुछ घटनाएँ उसमे वर्णन की गई हैं उनकी कल्पना करने में लेखक को भावना-शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। जितना ही अधिक उत्पादन उसकी भावना करती है उतना ही उत्तम उपन्यास तैयार हो जाता है। अब जैसे उपन्यास के लेखक को उस उपन्यास के तैयार करने मे भावना का प्रयोग करना पड़ता है उसी प्रकार उस उपन्यास के पढ़नेवाले को भी भावना-शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। जो कुछ घटनाएँ वह पढ़ता जाता है, जो कुछ विचार वह

ग्रहण करता जाता है उनके मिश्रण से उसके मन मे नई प्रतिमाएँ उत्पन्न होती जाती है। परन्तु लेखक और पढ़नेवाले दोनो की भावना मे एक प्रकार का जाति-भेद निकल सकता है। नई प्रतिमाएँ दोनो के मन के सम्मुख आती है। परन्तु लेखक उन्हे भावना-शक्ति से उत्पन्न करता है और पढ़नेवाला उन्हे उस शक्ति से ग्रहण करता है और लेखक की प्रतिमाओ का अनुकरण करता है। इसलिए निर्मित-कल्पना या भावना के दो रूप हुए—एक तो उत्पादक और दूसरा **अनुकरणीय**।

अब यदि हम निर्मित-कल्पना को दूसरी दृष्टि से देखे तो हमे दो पृथक् जातियाँ और मिलेगी। और यह जाति-भेद ऐसा है जो शिक्षा-शास्त्र पर बड़ा प्रभाव डालता है। वह निर्मित-कल्पना, जिसके बल से इंजीनियर एक भारी पुल का रूप खींचता है या जिससे विज्ञानवेत्ता कोई वैज्ञानिक कल्पना करता है, या जिससे गणितज्ञ किसी गणित के मूल नियम को तैयार करता है, उस निर्मित-कल्पना से जिसका कि एक लेखक उपयान्स के गढ़ने मे प्रयोग करता है, या कवि कविता की रचना मे काम मे लाता है, या चित्रकार चित्र का खाका बनाने मे लगाता है, बिलकुल पृथक् है। इंजीनियर तथा विज्ञानवेत्ता की भावना को हम **कृत्यसाधक** कहेगे और उपन्यास-रचयिता की भावना को **रससम्बन्धी** या **कलासम्बन्धी** कहना ठीक होगा। कृत्यसाधक कल्पना और कलासबंधी कल्पना में स्पष्ट भेद है।

कृत्यसाधक कल्पना करने में मन तनिक भी स्वतन्त्र नहीं होता और इसमे उसे मनमानी कल्पना करने की गुंजायश भी नहीं होती। मन के ऊपर कल्पना करने के लिए कुछ संयम और नियम रक्खे जाते हैं। इन नियमो का उसे पालन करना पड़ता है। यदि नियमो का पालन न किया गया तो बिलकुल ऊटपटॉग बात (कल्पना) तैयार हो जाती है। यह नियम (जिसका कि मन को पालन करना पड़ता है) विषयीगत नहीं होते—वे विषयात्मक होते है, और जो आभ्यंतरिक बातें होती हैं उनसे ये उत्पन्न होते है। मान लीजिए कि इंजीनियर को पुल की कल्पना करनी है। तो मन को इस निर्मित-कल्पना के करने के लिए यह अधिकार नहीं है कि वह मनमानी कल्पना करे। उसे यह अधिकार नहीं है कि वह मिट्टी के पुल की प्रतिमा को अपनी ऑखो के सामने आने दे। पुल केवल लोहे और पत्थर इत्यादि से बन सकता है,—इस बात को उसे ध्यान में रखना पड़ेगा। फिर यह बात भी है कि उसके बनाने के प्रयोगो मे वह मनमाने ऊटपटॉग प्रयोग नहीं कर सकता है। उसे विज्ञान के उन नियमो का, जो ऐसे कार्य में काम में लाये जाने चाहिए, पालन करना पड़ेगा। वह एक पतली लकड़ी की बल्ली पर लोहे के सहस्रो मन बोझ को मनमानी तरह स नहीं रख सकता। नियम, जिनका कि उसे पालन करना पड़ता है, आभ्यंतरिक स्थितियो पर

निर्भर है और उन नियमो को प्रस्तुत विपय के अनुसार ही निश्चित किया गया है।

कला-सम्बन्धी कल्पना करने मे मन को अधिक स्वतन्त्रता होती है। यह कहना तो उचित न होगा कि उसे उतनी स्वतंत्रता होती है जितनी अनिद्र स्वप्न देखने में, परन्तु यह अवश्य है कि उसकी दौड़ मे अधिक रुकावटे नहीं होतीं। मन-मोदक लूटने की सभावना अधिक होती है। यह कहना तो असत्य होगा कि उपन्यास-रचयिता, कवि या चित्रकार को किन्हीं भी नियमो का पालन नही करना पड़ता परन्तु यह अवश्य है कि न तो यह नियम उस जाति के होते है जो इंजीनियर को मानने पड़ते है, न उतने अधिक ही होते हैं। कृत्यसाधक कल्पना करने मे मन को जिन नियमो का पालन करना पड़ता है वे विषयात्मक नही होते, वे विषयीगत होते है। यह नियम लेखक या रचयिता के मन से उत्पन्न हुए होते है और वह स्वय अपनी इच्छा से अपने विचारो को उनके अधीन कर लेता है। अगर वह असभव घटना को अपने विषयीगत नियमो मे वैठा सके तो मिट्टी के पुल पर रेल चला सकता है।

कृत्यसाधक और कला-सम्वन्धी कल्पनाओ मे और एक भेद थोड़ा थोड़ा प्रतीत होता है। यह अनुभव की हुई वात है कि जव मन को मनमोदक लूटने को मिलते है तो उसे वड़ी प्रसन्नता होती है। कल्पना करने मे मन के अंतःक्षोभो को भी शांति मिलती है। दोनो कल्पनाओ मे सतोप, मोह

और प्रसाद भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। कृत्यसाधक कल्पना में प्रसाद अधिकतर क्रिया की सफलता के सम्पूर्ण हो जाने पर मिलता है। ज्यो ज्यो क्रिया मे सफलता प्राप्त होती जाती है त्यो त्यो मन-मोद बढ़ता जाता है, परन्तु सम्पूर्ण मुदित मन होना क्रिया की सफलता के समाप्त होने पर निर्भर है। कला-सम्बन्धी कल्पना मे विषयी को सफलता से क्रिया के समाप्त होने की उतनी चिन्ता नहीं होती जितनी कि कृत्य-साधक कल्पना मे होती है। इसलिए क्रिया जारी रहते हुए भी बहुत मोद मिलता रहता है। समाप्त होने पर भी मन-मोद होता है परन्तु उस प्रकार का नहीं जो कि कृत्यसाधक में होता है। इसका मुख्य कारण यही है कि एक में विषयात्मक नियमो का बन्धन होता है और दूसरे में नहीं।

अब थोड़ा विचार करने से यह और ज्ञात होगा कि दोनो कृत्यसाधक और कला-सम्बन्धी कल्पनाओ के और दो जाति-विभाग हो सकते है। कृत्यसाधक कल्पना **क्रियात्मक** और **सूत्रात्मक** दोनो हो सकती हैं। जब कि मन का उद्देश्य किसी बात को समझना होता है तो वह सूत्रात्मक कल्पना का प्रयोग करता है और जब क्रिया करना उसका लक्ष्य होता है तब क्रियात्मक कल्पना को काम में लाना पड़ता है। जब हम विज्ञान के मूल नियम निकालने की चेष्टा करते हैं तो सूत्रात्मक कृत्यसाधक कल्पना काम में लाते है। और जब हमें किसी वस्तु का निर्माण करना पड़ता है, जैसे इंजन या पुल

वनाना, तव हम क्रियात्मक कृत्यसाधक कल्पना का प्रयोग करते है। इसी प्रकार कला-सम्वन्धी कल्पना के भी यही दो जाति-विभाग हो सकते है। एक औत्प्रेक्षिक और दूसरी कलात्मक। औत्प्रेक्षिक कल्पना का प्रयोग केवल अनिद्र स्वप्न देखने मे और हवावदी में होता है। जव मन अपने मनमोदक लूटता है और ख्याली पुलाव पकाता रहता है तव वह औत्प्रेक्षिक कल्पना को विना लगाम के दौडने देता है। परन्तु जव नियमानुसार कल्पना अपना काम करती है तव वह स्वप्न गढ़ने की जगह उद्देश्यो को सोच निकालता है। उस कल्पना को जो उद्देश्यो के उत्पन्न करने मे सहायता देती है हम रस-सम्बन्धी या कलात्मक कहेगे। साहित्य-ग्रंथ-रचयिता इसी जाति की कल्पना का प्रयोग करके एक आदर्श उपस्थित कर सकता है।

जीवन के लिए आदर्श और उद्देश्य वहुत आवश्यक है। इसलिए धीरे धीरे वालको को औत्प्रेक्षिक कल्पना करने मे समय नष्ट करने से हटाकर कलात्मक कल्पना करने की ओर झुकाना चाहिए। जीवन में सफलता के लिए कलात्मक और कृत्यसाधक कल्पना ही लाभदायक हो सकती है। कुछ विद्वान् कहते है कि कृत्यसाधक कल्पना ही वालको में वढ़ानी चाहिए।; जीवन मे वालको को क्रियात्मक ही वनना है। कला-सम्वन्धी कल्पना की ऐसी आवश्यकता नही है। वे सव वातें जिनसे वालको का मन स्वच्छदतापूर्वक ऊटपटॉग दौड़ लगाने लगता है रोकनी ,चाहिए। परियो की कहानियॉ, राजा-रानियो के

हम देख चुके है कि भावना मे उद्भावन आवश्यक है। किन्तु भावना पुराने अनुभवो का केवल पुनरुद्भावन ही नहीं है। भावना चाहे जो रूप धारण करे उसमे प्रतिमा-भावना बहुत काम आती है। प्रतिमा और उसके अ शो का मिश्रण ही तो भावना मे होता है। इसलिए भावना-शक्ति की वृद्धि के लिए प्रतिमाओ की स्पष्टता और वृद्धि दोनो आवश्यक है। प्रतिमाएँ **मूर्तिमान्** भी होती है और **साङ्केतिक** अथवा **शाब्दिक** भी। बालको के मन मे मूर्तिमान् प्रतिमा बहुत शुद्ध और स्पष्ट बनती है। ज्यो ज्यो वह बड़ा होता जाता है त्यो त्यो मूर्तिमान् प्रतिमाएँ कम होती जाती है और वह शाब्दिक अथवा साङ्केतिक प्रतिमाएँ अधिक बनाने लगता है। परन्तु इस क्रिया मे जितनी जल्दी की जाती है उतनी ही अशुद्ध प्रतिमा बनने का भय रहता है। पहले मूर्तिमान् प्रतिमा खूब स्पष्ट और शुद्ध बन जानी चाहिए और फिर धीरे धीरे ज्यो ज्यो शब्द उसकी समझ मे आने लगे और ज्यो-ज्यो वह भाषा का ठीक ठीक प्रयोग करने लगे त्यो-त्यो शाब्दिक प्रतिमाएँ बनने देना चाहिए। भावना के अभ्यास मे यह परमावश्यक है कि बालक मे अशुद्ध भावना न स्थापित हो। इसी लिए हर पाठ मे और विशेष कर छोटे बालको के सामने प्रत्यक्ष वस्तु, नमूने, चित्र आदि लाये जावें। अध्यापक उचित प्रश्नो-द्वारा यह जाँच लिया करे कि बालक के मन मे शुद्ध भावना उपस्थित होती जा रही है या नहीं।

प्रयोग-द्वारा इस बात को प्रमाणित किया गया है कि स्कूल के बहुत-से विषयो मे भावना का उचित प्रयोग किया जा सकता है। गणित या विज्ञान के प्रश्न हल करने में भावना-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। भूगोल में सौर जगत्, पृथ्वी, पृथ्वी पर के देश और वहाँ लोग किस प्रकार जीवन व्यतीत करते है इत्यादि ऐसी बाते है जिनके ठीक ठीक जानने के लिए भावना-शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। इतिहास और साहित्य मे रटने से काम नहीं चलता। लेखक के विचारो को ग्रहण करने के लिए लेखक के मन की प्रतिमाओ का अनुकरण करना पड़ता है। ड्राइंग, चित्रकारी और प्रकृति-निरीक्षण में तो प्रतिमा-कल्पना बालक को पद-पद पर करनी पड़ती है।

१२—थकान

XII. Fatigue

ध्यान के बारे मे विचार प्रकट करते समय हम यह कह चुके है कि ध्यान का मुख्य कारण रुचि है। यदि बालक की रुचि किसी कार्य की ओर आकर्षित कर ली जाय तो वह उस कार्य मे ध्यान देने लगेगा। जब तक बालक की रुचि उसमे लगी रहेगी वह ध्यानपूर्वक काम को करता रहेगा। बालक की रुचि किस प्रकार काम मे लगानी चाहिए इस पर भी हम बार बार विचार कर चुके है। जिन नियमो का हमने उल्लेख किया है अगर वह शिक्षा-शास्त्र मे प्रयोग मे लाये जायँ तो बालक की रुचि स्कूल के सब कार्यो मे लगाई जा सकती है। अब मान लीजिए कि कोई अध्यापक हमारे इन सब बताये हुए नियमो का पालन करते हुए अपना कार्य करता है और बालको की रुचि का प्रयोग कराकर उनको ध्यान-पूर्वक काम मे लगाता है। इस अध्यापक को भी, इन नियमो का पालन करते हुए भी, कभी कभी ऐसे अवसर मिलेगे जब उसे मालूम होगा कि बालक ध्यान नही दे रहे हैं। यदि हम यह भी मान ले कि बालक अध्यापक के पूरे शासन मे है और ध्यान देने का प्रयत्न भी करते है फिर भी यह देख

जायगा कि कभी कभी वे ध्यान नहीं दे सकते। यह स्थिति जिसको हम सब कभी कभी अनुभव करते है केवल एक कारण से उत्पन्न होती है। वह कारण **थकान** है।

जैसे कि शारीरिक काम से मनुष्य थकावट प्रतीत करता है, उसी प्रकार मानसिक कार्य से भी। काम, चाहे मानसिक हो चाहे शारीरिक, थकान अवश्य उत्पन्न करेगा। थकावट आते ही शारीरिक और मानसिक शक्तियो मे न्यूनता आ जाती है। जो सोचने और याद करने का काम सुगमता से हो सकता है उसमे बहुत कठिनाई प्रतीत होने लगती है। जैसे दौड़कर थक जाने के बाद पैर काम नहीं देते उसी प्रकार मन अपना कर्त्तव्य नहीं कर सकता। 'शरीर-विज्ञान' की दृष्टि से अगर इस मामले को देखे तो हमे यह ज्ञात होगा कि मानसिक परिश्रम करते समय मस्तिष्क मे कुछ परिवर्त्तन होता रहता है। अगर शारीरिक परिश्रम किया जाता है तो शरीर के उस भाग का, जिससे परिश्रम किया जाता है, बहुत कुछ अंश व्यय हो जाता है। मान लीजिए कि कोई दौड़ लगाता है, तो मुख्य रीति से उसके हृदय (जहाँ से कि रुधिर शरीर को भेजा जाता है) और उसके पैर की पेशी (जिनको अधिक परिश्रम करना पड़ता है) विशेष व्यय करते है। शरीर-विज्ञान के अनुसार हम यह कहेगे कि उन अङ्गो से 'ओषजन' (Oxygen) निकलती जाती है। उन अङ्गो से तो वह अवश्य नष्ट होती है पर वह कार्य के रूप में परिवर्तित हो

जाती है। इस नष्ट हुए ओपजन की पूर्ति होनी आवश्यक है। रुधिर फेफड़ो से ओपजन ले-लेकर शरीर मे दौडता है और जहाँ जहाँ ओपजन की न्यूनता होती है वहाँ वहाँ उसकी पूर्ति करता है। इस ओपजन की न्यूनता पूरी करने के लिए रुधिर की धारा को जल्दी जल्दी दौड़ना पड़ता है। दिल इसी कारण जोर से धडकने लगता है। फेफडो मे जल्दी जल्दी ओपजन पहुँचने की आवश्यकता होती है, इसलिए जल्दी जल्दी साँस लेनी पड़ती है। जो दूषित वस्तुएँ शरीर मे उत्पन्न हो जाती है वह कुछ तो रुधिर-द्वारा फेफडो मे लाकर बाहर निकलती हुई श्वास-द्वारा फेंक दी जाती है और कुछ प्रस्वेद के साथ निकल जाती है। जब परिश्रम इतना ही किया जाता है कि कुल दूषित वस्तुएँ साधारण श्वास-द्वारा बाहर निकल जाती है और साधारण रक्त-परिचालन के द्वारा आवश्यक ओपजन भीतर पहुँच जाता है तब तक तो कोई हानि नहीं होती, परन्तु यदि यह कुल दूषित वस्तुएँ जो रक्त-प्रवाह मे मिल जाती है शीघ्र बाहर नहीं फेक दी जाती तो वे धीरे धीरे शरीर के दूसरे अङ्गो मे, जिनसे काम नहीं लिया जाता, पहुँच जाती है, और उनके साधारण कार्य मे बाधा डालने लगती है। अधिक वेग से काम करने से ऐसी दशा उत्पन्न हो जाती है और दूषित वस्तुओ का विष धीरे धीरे सारे शरीर मे प्रवेश कर जाता है। ऐसी अवस्था होने पर शरीर मे शक्तिहीनता और शिथिलता आ जाती है। जब

हम मनुष्य को इस अवस्था में देखते है तो कहते है कि वह थक गया है।

मानसिक और शारीरिक थकावट में शरीर-विज्ञान की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। शारीरिक थकावट में अधिकतर परिवर्तन पेशियो में होता है और दूषित वस्तुएँ उनमे एकत्रित हो जाती है। मानसिक थकावट मे मस्तिष्क में परिवर्तन होता है और दूषित वस्तुएँ उसमें एकत्रित हो जाती है। जैसे पेशियो के तन्तुओ मे क्षय होता है और विष एकत्रित हो जाता है उसी प्रकार मस्तिष्क के तन्तुओ मे भी क्षय होकर उसमे विष एकत्रित हो जाता है। इस बात का पता प्रयोगो-द्वारा लगाया गया है। थकावट के कारणो में से मुख्य कारण विष का किसी अंग में एकत्रित हो जाना है। अगर किसी पशु की एक थकी हुई पेशी ली जाय और उसको हलके नमक के पानी से धो दिया जाय तो विष दूर हो जाता है और उस पेशी मे काम करने की शक्ति फ़िर आ जाती है। थोड़ा काम करने के उपरात फिर वह थक जाता है परन्तु नमक के पानी से धो देने से फिर काम करने लगता है। यह क्रिया कई वार की जा सकती है। अन्त मे तो फिर ऐसा समय आ ही जाता है जब वह काम बिलकुल नहीं कर सकती क्योकि तन्तुओ का क्षय इतना अधिक हो जाता है कि विना उनकी वृद्धि हुए उसका अधिक काम करना असंभव हो जाता है।

एक बात और देखी गई है कि वात-संस्थान के कोष्ठ शरीर के दूसरे संस्थानो के कोष्ठो से कहीं अधिक सचेत्य है। विप का असर उनके ऊपर तुरन्त ही हो जाता है। ज्यो ही रुधिर के प्रवाह के साथ शरीर के किसी भी भाग में पैदा हुआ विप वात-संस्थान के कोष्ठो मे पहुँच जाता है त्यो ही वह विष उस पर असर करने लगता है। वात-संस्थान मे भी, विशेष कर मस्तिष्क के कोष्ठ पर, विप का असर सबसे अधिक पडता है। परिणाम यह होता है कि शरीर मे चाहे कहीं भी विप पैदा हो, उसका असर मस्तिष्क पर पहुँच जाता है। शारीरिक काम करने और थकावट पैदा होने से भी मस्तिष्क पर असर पहुँचता है। किसी प्रकार की थकावट पैदा होने से मनुष्य के व्यवसाय और बुद्धि पर असर पड़ता है और वह मानसिक कार्य मे ध्यान नहीं दे सकता। शारीरिक और मानसिक थकावट दोनो एक दूसरे से शरीर-विज्ञान की दृष्टि से अलग नहीं रक्खी जा सकती और एक का असर दूसरे पर पड़ता है।

कदाचित् ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसने कभी शारीरिक और मानसिक कार्य करने मे थकावट न अनुभव की हो। सच पूछिए तो थकावट व्यवसाय के साथ काम करने का एक लक्षण मात्र है। ध्यान देते देते थकावट पैदा हो ही जाती है, परन्तु यदि शरीर का स्वास्थ्य अच्छा हो तो थोड़ी देर विश्राम करने से थकावट दूर हो जाती है। परन्तु इसका अर्थ यह

नहीं है कि थकावट का स्वागत करना चाहिए या उसकी परवाह न करनी चाहिए। थकावट के कारण काम करने की शक्ति मे बड़ा अन्तर पड़ जाता है और थकी हुई दशा मे कार्य करने से समय भी बहुत नष्ट होता है। थकी हुई दशा मे काम करने से शरीर के अङ्गो का क्षय अधिक होता है। थकी हुई दशा मे मस्तिष्क बहुत परिश्रम करने पर भी थोड़ा-सा ही काम कर पाता है। दरजे मे काम करते करते कभी कभी बालको की ऐसी ही दशा होने लगती है। ऐसी अवस्था में बालको को डॉटने या दण्ड देने से कुछ लाभ नहीं होता।

इस अवसर पर दूसरे उपायो का अवलम्ब ग्रहण करना चाहिए। अध्यापक के लिए इस बात का जानना भी आवश्यक है कि बालको मे थकावट के क्या चिह्न है। जब बालक काम नहीं कर पाते तो इस बात का पता लगाने की आवश्यकता होती है कि उसका कारण क्या है। या तो पाठ इतना कठिन है कि बालक काम नहीं कर सकते, या पाठ-प्रणाली बालको के लिए रोचक नहीं है, या बालक जानकर शरारत कर रहे है और पढ़ना नहीं चाहते, या वह मानसिक थकावट अनुभव करते है और उसके कारण विवश है। थकावट के कुछ चिह्न ऐसे है जिनसे आसानी से पता चल सकता है कि बालक थके है या नहीं। बालको की थकावट का पता लगाने के लिए बहुत-से प्रयोग भी वर्तमान काल मे किये गये है जिनसे

थकावट का पता लग सकता है। अब हम थकावट के चिह्नो का वर्णन करेगे।

विषयी की दृष्टि से अगर देखा जाय तो थकावट आरम्भ होने से जो काम वह करता होता है उसमे कुछ अनिच्छा होने लगती है। उसकी मानसिक दशा स्थिर नही रहती है। मन जो काम कर रहा होता है उसे छोड़कर दूसरे की ओर दौडता है और कार्य-परिवर्तन की लालसा करने लगता है। थकावट ज्यो ज्यो बढती जाती है अनिच्छा भी त्यो त्यो बढती जाती है। अन्त मे वह थककर कार्य मे परिवर्तन ही नहीं बल्कि विश्राम और निद्रा की इच्छा करने लगता है। ये सब बाते विषयीगत हैं और थकावट की दशा मे हम सब इनका अनुभव कर सकते है। बालक भी थकावट होने से इन्ही बातो को अनुभव करते है। परन्तु बालक कब यह अनुभव करते है इस बात का पता कैसे चले, क्योंकि यह अवस्था तो विषयीगत है और भीतर होती है? बालको से पूछने पर यह मालूम किया जा सकता है कि यह अवस्था उपस्थित हुई या नही। इसमें दो कठिनाइयाँ है—एक तो यह कि बालक के भीतर की सच्ची दशा का पता लगना कठिन है। बालक बहाना भी बना सकते है। दूसरा यह कि यदि वे सच भी बतला दे तो अध्यापक को यह किस प्रकार निश्चय हो कि वह अवस्था थकावट ही के कारण है और किसी और कारण से नही है। जो काम किया जा रहा हो

उसमें अरुचि का कारण अनिच्छा भी हो सकती है। अरुचि से अनिच्छा होती है, और थकावट से भी। और धोखे से अरुचि को थकावट समझा जा सकता है। अध्यापक अरुचि की समस्या को दूसरी रीति से हल कर सकता है। जहाँ तक हो सके प्रयोगो-द्वारा पाठ मे बालको को रुचि दिलाने का प्रयत्न करे। परन्तु जैसा हम कह आये है, कभी कभी ऐसे अवसर अवश्य सामने आवेगे जब व्यवसाय लगाकर ही बालक ध्यान दे सकता है और उसे ऐसा करना पड़ता है। अब अरुचि है या थकावट इसका भेद उसको कुछ बाह्य चिह्नो से लग सकता है। वे चिह्न ऐसे है जो छिप नहीं सकते और उन पर ध्यान देने से धोखा नहीं हो सकता। यह चिह्न बालको के शरीर की दशा तथा उनके मानसिक काम से सम्बन्ध रखते है। कुछ तो शारीरिक अवस्थाएँ ऐसी है कि जिनके उपस्थित होने से थकावट का पता लगता है और कुछ पता बालको के काम की उत्तमता और परिमाण से लग सकता है। हम पहले शारीरिक अवस्थाओ का वर्णन करेगे।

जब थकावट आरम्भ होने लगती है तब वात-शक्ति का प्रवाह शरीर की पेशियो की ओर धीमा पड़ जाता है। इस कारण शरीर की स्फूर्ति कम होकर उसमे एक प्रकार की शिथिलता उत्पन्न हो जाती है। बैठने, उठने, खड़े होने का ढङ्ग ढीला हो जाता है। चौकन्नी अवस्था मे शरीर जैसे ठीक सधा रहता है वैसा नही रहता। सिर ठीक

ऊँचा नहीं रहता, वह झुकने और लटकने लगता है। जब बालक खड़ा होता है तब रीढ़ सीधी नहीं रहती। बालक शरीर को मोड़ने लगता है और अँगड़ाई लेने लगता है। आँखे स्थिर नहीं रहतीं, चेहरे का तेज कम हो जाता है और उस पर कुछ पीलापन झलकने लगता है। भुजाएँ अगर फैलाई जायँ तो सीधी-सीधी नहीं फैलतीं, प्राय बाई भुजा नीचे झुकी रहती है। हाथ अगर इस तरह फैलाये जायँ कि हथेली नीचे की ओर रहे तो प्राय देखा जाता है कि अँगूठा अच्छी तरह नहीं फैलता और नीचे की ओर झुका रहता है। यदि थकावट अधिक होती है तो आँखे मिचने लगती है क्योकि वे निद्रा का आवाहन करना चाहती है।

अब हम काम के बारे मे विचार करेगे क्योकि अध्यापक बालको की कापियो मे उनके काम को ध्यान से देखकर और उनसे प्रश्न करके यह पता लगा सकता है कि उनमे थकावट आ गई है या नहीं। थकावट के कारण काम की उत्तमता और परिमाण दोनो मे कमी हो जाती है। जितना काम एक व्यक्ति साधारण दशा मे कर सकता है उतना थकी हुई दशा मे नहीं। इस बारे मे बहुत-सी क्रियाएँ की गई है जिनसे पता लगता है कि थकावट की दशा मे काम के परिमाण मे कितना अन्तर पडता है। काम के परिमाण के बारे मे जो पंक्ति-चित्र (graphs) खींचे गये हैं उनसे यह पता लगता है कि काम का परिमाण स्थिर नहीं रहता। कभी कम कभी अधिक, फिर कम इत्यादि

ऐसा होने लगता है। काम कम होता देख व्यक्ति व्यवसाय को काम मे लाता है और झटके से काम की मात्रा को बढ़ाने लगता है परन्तु फिर थकावट के कारण काम कम हो जाता है। काम में कमी होने के अतिरिक्त काम में बहुत अशुद्धियाँ होने लगती हैं और वे अशुद्धियाँ ऐसी होती है जो उस दर्जे में पढनेवाला बालक साधारण अवस्था मे नहीं करता। कुछ का कुछ कहीं लिख जाना, जानी हुई, दुहराई हुई बात जो पहले ठीक बता चुका हो उसमे अशुद्धि करना, इत्यादि अशुद्धियाँ थकावट के कारण होती है। इस बात को ठीक ठीक जानने के लिए प्रयोग किये गये है। बालकों को गणित के प्रश्न करने को दिये जाते है, इमला लिखाया जाता है और उनसे यह पता लगाया जाता है कि बालक थकी हुई दशा मे बेथकी हुई दशा की अपेक्षा कितनी अधिक अशुद्धियाँ करते हैं। अगर थकावट नहीं होती और काम रुचिपूर्वक न होने के कारण बालक बेचैन होने लगते है तो अपनी रुचि के अनुसार काम पाने पर वे अशुद्धियाँ नहीं करते। मान लीजिए कि गणित का एक ही काम बालक को प्रातःकाल दिया गया है और फिर जिस समय स्कूल का कार्य समाप्त हो रहा हो उस समय दिया गया है। दूसरी बार सवाल करने मे बहुत अशुद्धियाँ होंगी और वह कम सवाल कर सकेगा क्योंकि बालक थक गया है। परन्तु अगर स्कूल समाप्त होते समय वह ऐसा काम कर रहा हो जिसमे उसे रुचि न हो और गणित में उसे रुचि

हो तो उस समय यदि उसे सवाल दिये जायँगे तो सम्भव है कि वह उनमे से उतने ही ठीक कर उसके जितने उसने प्रात-काल किये थे।

अब हम थकावट को दूर करने के बारे मे विचार करेंगे। कुछ बाते तो शिक्षा-शास्त्र-सम्बन्धी है और कुछ ऐसी है जो स्वास्थ्य-रक्षा से सम्बन्ध रखती है। जिस बालक के घर का रहन-सहन अच्छा है, जिसे घर पर शरीर की वृद्धि के लिए पुष्टिकारक भोजन मिलता है, जिसको स्वास्थ्यसूचक गहरी निद्रा सोने को मिलती है, जो घर पर स्वच्छ जल-वायु का प्रयोग करता है उसे स्कूल मे काम करने मे अवश्य कम थका-वट होगी। किन्तु ये बातें अध्यापक के हाथ मे नही है। जब बालक स्कूल मे आ जाता है तब वह उसके लिए सब कुछ कर सकता है। स्कूल के कमरे मे वायु के आगमन का प्रबन्ध ठीक होना चाहिए। कमरे की वायु, रोशनी, गरमी, सरदी, इत्यादि का असर बालको के ऊपर बहुत पड़ता है। अगर इन बातो का ठीक प्रबन्ध नहीं है तो बालक जल्दी थक जायँगे। इस बात को भी निश्चय करने के लिए प्रयोग किये गये है। कमरे मे गरमी बढाकर, वायु कम करके, कमरे मे सीलन बढाकर वहाँ बैठकर काम करनेवालो की मानसिक क्रिया कितनी कम हो जाती है इस बात का भी पता लगाया गया है। कमरे मे वायु-परिवर्तन होना आवश्यक है। जब आँधी और लू न हो तो तब दरवाजे और खिडकियाँ

खुली रखनी चाहिए। कमरे में अधिक गरमी, सीलन या अधिक ठंढ न होनी चाहिए।

बालक के स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखने और काम को रोचक बनाने पर भी काम करने से थकावट तो अवश्य आवेगी। इसके लिए केवल विश्राम ही एक मुख्य उपाय है। विषय-परिवर्तन, कार्य-परिवर्तन इत्यादि बातो का हम स्कूल मे प्रयोग करते है। उसका भी अभिप्राय एक प्रकार का विश्राम देना है। विश्राम के दो अर्थ हो सकते है। एक तो यह कि जो अङ्ग बहुत देर तक काम कर चुका हो उससे काम न लेना और दूसरे को काम मे लगाना। हाथ-पैर चलाने से थक जाने के उपरान्त हम बैठकर समाचार-पत्र को बड़े ध्यान से पढ़ सकते है। मानसिक कार्य करने के उपरान्त हम खेल-कूद मे भाग ले सकते है। इसी प्रकार का विश्राम हम विषय-परिवर्तन मे देते है। किन्तु सारे शरीर मे थकावट आ जाने पर सारे शरीर को विश्राम देने की आवश्यकता होती है। निद्रा से बढ़कर कोई विश्राम नही हो सकता और दिन का कार्य समाप्त करने के बाद प्रतिदिन ही हम सब यह विश्राम लेते है।

विषय-परिवर्तन के लिए हर स्कूल मे **समय-विभाग-चक्र** होता है। यह चक्र थकावट के नियमो को ध्यान में रखकर बनाया जाना चाहिए। पहला नियम तो यह है कि एक ही विषय बहुत अधिक समय तक न चलना चाहिए और यह

समय वालको की आयु का ध्यान रखकर नियत होना चाहिए। छोटे बालक एक विषय पर अधिक समय तक ध्यान नहीं दे सकते। उनके लिए ३० या ३५ मिनट का घटा पर्याप्त है। ४५ और ५० मिनट से अधिक एक विषय को किसी कक्षा मे न पढाना चाहिए। दूसरा नियम यह ध्यान में रखना चाहिए कि पहले घटे के काम मे शरीर के जिन अवयवो पर श्रम पडता है उन्हीं पर दूसरे घटे के काम मे न पडे। एक घटे मे गणित है तो दूसरे मे ड्राइग रख सकते है, पर व्याकरण नहीं। तीसरा नियम यह है कि जब बालक स्कूल आते हैं उस समय उनकी तबीअत हरी रहती है और उनका मस्तिष्क कठिन काम मे लग सकता है। इसलिए कठिन विषय पहले या दूसरे घटे मे रखने चाहिए। बहुत-से प्रयोग करने के उपरान्त विषयो की कठिनाई निश्चित की गई है। अगर गणित की कठिनाई १०० एकाई मान ली जाय तो सस्कृत की ९०, शारीरिक कसरतो की ९०, इतिहास, भूगोल की ८५, नेचर स्टडी (प्रकृति-निरीक्षण) की ८०, और ड्राइग, दस्तकारी इत्यादि की ७५ एकाई के लगभग होगी। विषयो को सोच समझकर समय-विभाग चक्र मे रखना चाहिए। यह बात भी ध्यान मे रखी जाय कि लगातार मानसिक कार्य, करने से शरीर मे धीरे धीरे कुछ थकान उत्पन्न हो जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि थोड़ी देर काम करने के उपरान्त कुछ समय के लिए बालको को मानसिक काम से छुट्टी दे दी

जाय। इस अभिप्राय से बीच में दो तीन बार पंद्रह अथवा बीस मिनिट और आध घण्टे की छुट्टी दी जाती है। बालक की रुचि का भी ध्यान वर्तमान काल मे बहुत रक्खा जाने लगा है। बहुत-सी नई नई शिक्षा-प्रणालियाँ, जिनका उल्लेख करने की यहाँ जगह नहीं है, सोच निकाली गई है। उनके बारे मे अधिक जानकारी के लिए अध्यापकों को दूसरी पुस्तके पढ़नी चाहिए।

——

१३—बुद्धि-परीक्षा

XIII. Intelligence-testing

वर्तमान काल के मनोविज्ञान मे कोई विषय ऐसा नही है जिसके बारे मे मनोविज्ञानवेत्ताओ ने इतना सोच-विचार किया हो जितना कि बुद्धि-परीक्षा पर। स्कूल के बालको और कालिज और विश्व-विद्यालयो के छात्रो पर नाना प्रकार के प्रयोग इस अभिप्राय से किये गये है कि उनकी बुद्धि का कुछ पता चले और उन्हे शिक्षा देने में सहायता मिले। बुद्धि अथवा मनीषा क्या वस्तु है, बुद्धि और ज्ञान में क्या सम्बन्ध है, बुद्धि की जॉच करने के क्या सुगम प्रयोग हो सकते है,—इन सब बातो पर विचार किया गया है। वैसे तो बुद्धि शब्द को सभी समझते हैं और बुद्धिमान् और मूर्ख मे क्या भेद है इसे प्राचीन काल से आज तक सब जानते आये है, परन्तु विज्ञान की दृष्टि से बुद्धि क्या वस्तु है और किस यन्त्र से उसे नाप सकते हैं यह बात केवल गत २५ या ३० वर्ष से ही कुछ कुछ स्पष्ट हो सकी है। बुद्धि-सम्बन्धी हर एक बात का ठीक ठीक पता अभी नहीं लगा है। कई एक प्रश्न ऐसे हैं जिन पर अब भी मतभेद है और घोर वाद-विवाद जारी है। परन्तु इस सम्बन्ध मे विद्वानो ने इधर खूब काम किया है

और हर एक अध्यापक को इस विषय में थोड़ी बहुत जानकारी रखनी आवश्यक है। इस जानकारी से केवल उसके ज्ञान की ही वृद्धि नहीं होगी किन्तु उसको अपने शिक्षा प्रदान करने के कार्य में भी बहुत कुछ सहायता मिलेगी।

प्राचीन काल मे वही बुद्धिमान् समझा जाता था जिसके पास बहुत विद्या होती थी। विद्वान् होना चतुरता का चिह्न है। लोगो की यह धारणा थी कि जितने अधिक विषयो को कोई व्यक्ति जानता है वह उतना ही अधिक बुद्धिमान् है। जिस व्यक्ति को बहुत-सी विद्याएँ सिखा दी गई है वह बुद्धिमान् है और दूसरा, जिसको उन विद्याओ का ज्ञान नहीं है, मूर्ख है। मन एक कोरा पत्र है, अथवा खाली कुण्ड के समान है। शिक्षा के द्वारा उस कोरे पत्र पर जितना ही अधिक लिख दिया जायगा उतना ही वह बुद्धिमान् हो जायगा, या उस कुण्ड मे जितनी ही अधिक विद्या भर देंगे उतनी ही बुद्धिमत्ता उसमे बढ़ जायगी। जब तक मन के बारे मे कोरे पत्रवाला सिद्धान्त माना जाता रहा तब तक 'बुद्धि की थाह विद्या के द्वारा लग सकती है' इसी बात पर लोग विश्वास करते रहे। जब इस सिद्धान्त का खण्डन कर दिया गया और दूसरी कल्पनाएँ उपस्थित की गईं तब बुद्धि के बारे मे विचार पलटने लगा।

बुद्धि और विद्या मे भेद है। मन कोरा पत्र नहीं है। मन में बहुत-सी शक्तियाँ होती हैं जिनका हम विद्याध्ययन मे प्रयोग करते है। ये शक्तियाँ हमको विद्या प्राप्त करने में सहायता

देती हैं और वे यह भी निश्चय करती है कि प्राप्त की हुई विद्या का प्रयोग हम कहाँ तक कर सकते है। जो अपनी विद्या का अधिक प्रयोग कर सकता है वही अधिक बुद्धिमान् है। मनोविज्ञानवेत्ताओ ने मन-सम्बन्धी पुरानी कल्पनाओ का ज्यो ज्यो सशोधन किया त्यो त्यो इस प्रश्न पर अधिक प्रकाश पड़ता गया। अतएव अध्यापको के लक्ष्य मे भी इन्ही कल्पनाओ के अनुसार यथायोग्य परिवर्तन होने लगा। अध्यापक पहले तत्त्वज्ञान देना ही अपना कर्तव्य समझते थे किन्तु अब वे मानसिक शक्तियो के विकास पर भी ध्यान देने लगे। वे जान गये कि बालक की बुद्धि और मानसिक शक्ति पर ही विशेप ध्यान देना चाहिए। केवल विद्या प्रदान करने पर ही अध्यापक को अधिक जोर न देना चाहिए। इस बात के प्रचिलत हो जाने से अध्यापको के विचारो मे ऐसा परिवर्तन हुआ और विद्या के प्रति उनके मन मे इतना प्रक्षेपण उत्पन्न हुआ कि वे एक विद्याहीन किन्तु बुद्धिमान् छात्र की कल्पना करने लगे। किसी कल्पना के प्रति जब प्रतिक्रिया होती है तब ऐसा ही होता है। थोडे समय मे उनके विचार स्थिर होने लगे और बुद्धि-विकास के लिए विद्या का होना कहाँ तक आवश्यक है इसका ज्ञान उन्हे होने लगा। मनोविज्ञान ने बड़ी सहायता की। उसकी सहायता से यह प्रश्न कि मन (जिससे विद्या के समूह का तात्पर्य नहीं है) किस प्रकार नापा जाय, हल हो गया। विद्या कितनी है इस

बात का जॉचना और नापना तो प्राचीन काल से होता ही चला आ रहा है और सभी जानते है। पर मन किस प्रकार नापा जाय इस प्रश्न का उत्तर वर्तमान काल ही मे मिला है। मनोविज्ञानवेत्ताओ ने मन के नापने की रीतियो को ही जानने की चेष्टा नहीं की है किन्तु उन्होंने मन नापने के मानो को गणित के अंको में प्रकाशित किया है। गणित के अको के उपयोग के कारण एक बात की तुलना दूसरी बात से निश्चित रूप से की जा सकती है। परिमाणात्मक मान गुणात्मक मान से कहीं उत्तम और विश्वास-योग्य माना जाता है। यह कहना तो बिलकुल सत्य न होगा कि मन के हर एक अंश का परिमाणात्मक मान हो सकता है, परन्तु परिमाणात्मक मान अधिकतर विषयात्मक होता है, इसलिए यही प्रयत्न किया गया है कि जहाँ तक हो सके जितने अंशो को परिमाणात्मक रीति से नापा जा सके उतना ही उत्तम होगा।

हम पहले कह आये हैं कि विद्या का मान तो प्राचीन काल में भी किया जाता था और वर्तमान काल की परीक्षाएँ उसी बात का नमूना है, पर वर्तमान काल मे मनोविज्ञान ने मानसिक शक्ति को नापने का प्रयत्न किया है। मनुष्य की बुद्धि उसे परम्परा से प्रदान होती है परन्तु उसका विकास परिस्थिति मे ही हो सकता है। परिस्थिति को ध्यान मे रक्खे बिना बुद्धि का मान हो ही नही सकता। बुद्धि की सहायता से मनुष्य विद्या सुगम रीति से प्राप्त करता है। विद्या परिस्थिति

से ही मिलती है। इसलिए विद्या का कुछ न कुछ प्रयोग भी हमे करना आवश्यक है। किसी मनुष्य मे गणित बुद्धि है या नहीं इस बात को जॉचने के लिए गणितरूपी परिस्थिति का प्रयोग करना पड़ता है।

कई सौ वर्ष हुए जब प्रथम बुद्धि को विद्या से पृथक् नापने का प्रयत्न किया गया था। मनोविज्ञानवेत्ताओ ने यह विचार किया कि बुद्धि का पता शारीरिक दशाओ से लग सकता है। सिर पर मुख्य रीति से ध्यान दिया गया क्योकि मन और मस्तिष्क मे भारी सम्बन्ध है। गाल (Gall) और स्पर्जहीम (Spurzheim) ने सिर की नाप और बुद्धि मे सम्बन्ध की कल्पना उपस्थित की। बड़ा सिर होना बुद्धिमत्ता का चिह्न है और छोटा सिर मूर्खों का होता है। फिर लेवेटर (Lavater) ने मनुष्य के चेहरे की आकृति, ऑख और नाक की बनावट पर जोर दिया। ये बाते १८वीं शताब्दी में प्रचलित रहीं। १९वीं शताब्दी में भी लम्ब्रासो (Lombroso) ने, जिसे अपराध-विद्या के अध्ययन मे बडी रुचि थी, शारीरिक चिह्नो और बनावट पर जोर दिया। उसने एक कल्पना यह भी उपस्थित की कि अपराधी बुद्धिहीन होते हैं। जिन लोगो मे मानसिक दुर्बलता होती है वे ही अपराधी होते हैं। चतुर मनुष्य अपराधी नहीं हो सकता। इस बात का खण्डन बर्ट (Burt) ने वर्त्तमान काल मे किया है। कोई २५ वर्ष हुए पियरसन (Pearson) ने गणित का प्रयोग करके इस बात को सिद्ध किया कि शारीरिक

आकृतियो मे और मानसिक शक्तियो में जैसा सम्बन्ध कहा जाता है वैसा नहीं है। उसने एक गणित के नियम का उपयोग किया। इस नियम का नाम **अनुबन्धक गुणक** (Coefficient of correlation) है और इसके द्वारा दो वातो का सम्वन्ध मालूम किया जा सकता है। इस क्रिया का वर्णन तथा उसके गणित का प्रयोग वताने की आवश्यकता नहीं है। यह कहना मिथ्या न होगा कि गणित के इस नियम के उपयोग ने वुद्धि की जॉच के प्रश्न पर वड़ा प्रभाव डाला है और परिमाणात्मक रीतियो का पूरा विकास किया है। यदि किसी कक्षा के वालको ने दो विपयो, जैसे इतिहास और भूगोल, मे परीक्षा देकर कुछ नम्वर पाये हों और हमे उन नम्वरो की तुलना करनी हो तो इस अनुवन्धक गुणक की क्रिया की सहायता से उनकी तुलना कर सकते है, और दोनो विपयो के नम्वरो मे परिमाणात्मक सम्वन्ध स्थापित किया जा सकता है।

वुद्धि अथवा मनीपा के नापने की ठीक रीति मालूम करने का श्रेय आलफ़्रेड विने (Alfred Binet) का है जिन्होने कोई २५ वर्ष हुए इस विपय का अन्वेपण किया था। ये सज्जन फ्रांस देश के मनोविज्ञानवेत्ता थे और इनको वहाँ के शिक्षा-विभाग ने इस कार्य पर नियुक्त किया था कि वे इस वात का पता लगावें कि पाठशालाओ में कितने वालक ऐसे हैं जो वुद्धिहीन गिने जा सकते हैं। वुद्धिहीन वालकों को वुद्धिमान्

बालको के साथ रखकर उनसे वही काम कराने मे, जो बुद्धिमान् बालक कर रहे है, उनका समय नष्ट होता है और वह आगामी जीवन के लिए तैयार नहीं हो पाते। उन्हे ठीक तरह से शिक्षा देने के लिए उनके अनुकूल पाठशाला होनी चाहिए जिनमे उनकी बुद्धि के अनुसार ही शिक्षा-प्रणाली भी हो। इन बुद्धिहीन बालको के छॉटने के लिए विने ने बालको की ज्ञानेन्द्रियो की शक्तियो की परीक्षा करनी आरम्भ की। परन्तु इससे कुछ लाभ न हुआ, क्योकि यह आवश्यक नही है कि जिसकी दृष्टि, अथवा सुनने, अथवा चखने की शक्ति तीव्र हो वह बुद्धिमान् भी हो। विने ने यह सोचा कि जिस शक्ति को हम बुद्धि कहते है उसका उपयोग मनुष्य तब करते हैं जब उनके सम्मुख कोई नई समस्या उपस्थित हो। जितनी सुगमता और जितनी शीघ्रता से मनुष्य किसी कठिन मामले को समझ ले और सुलझा सके वह उतना ही बुद्धिमान् है। बुद्धिमान् बालक बहुत कम अवसरो पर किंकर्तव्यविमूढ़ हो सकता है। बुद्धिमान् व्यक्ति अभिप्राय को शीघ्र समझ लेता है, और उसके ज्ञान हो जाने पर वह अपने मन को उचित मार्ग मे लगाता है। कठिन प्रश्न सामने आने पर वह अन्धकार मे टटोला नहीं करता। बुद्धि की सहायता से उपस्थित समस्या पर विचार करता है। उसमे ठीक मार्ग पर जाने और बेठीक मार्ग को जान-बूझकर बचाने की योग्यता होती है। इन सब बातो पर

बिने ने विचार करके यह निश्चय किया कि बालक को कुछ प्रश्न देकर और उससे उसकी आयु के अनुसार कुछ मानसिक कार्य करा-कर उसकी बुद्धि का पता लगाया जा सकता है।

बिने ने अपने कार्य में एक दूसरे महाशय साइमन (Simon) की सहायता ली थी। इन्होंने बालकों से पूछने और कराने के लिए लगभग ६० प्रश्न तैयार किये। फिर उन्होंने उनमे से केवल ५४ ही ठीक समझे। यह बिने-साइमन-माप कहलाने लगा। कुछ समय बीतने के उपरान्त अमेरिका और इँगलेंड में इस माप का संशोधन किया गया और वर्तमान काल मे इस माप में ६५ प्रश्न रक्खे गये है। बिने ने इन प्रश्नों को बहुत-सी पाठशालाओं के कई हजार बालकों को दिया और यह पाया कि आयु के अनुसार बालकों ने उन प्रश्नों का उत्तर दिया था। कुछ प्रश्न ऐसे थे जिनको सभी ३ वर्ष के साधारण बालक कर सकते थे। कुछ ऐसे थे जो ४ वर्ष के बालक कर सकते थे और कुछ ५ वर्षवाले इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार १५ वर्ष के बालको तक के लिए बिने के माप में प्रश्न थे। हजारो बालको को देकर उसने इस माप की सत्यता को प्रमाणित किया और बालको की बुद्धि को जाँचने के लिए इस माप को प्रयोग में लाने लगा। जो बालक कि ५ वर्ष के थे और वे ५ वर्षवाले सब प्रश्नो को कर सकते थे उनकी मानसिक आयु ५ वर्ष की कहना उसने निश्चित किया। और यदि ५ वर्ष का बालक केवल उन्हीं प्रश्नो को

कर सकता है जो कि चार वर्ष के बालको के लिए नियत हैं तो उसकी मानसिक आयु ४ वर्ष की होगी। इसके विपरीत यदि वह उन प्रश्नो को कर सकता है जो छः या सात वर्ष के बालक के लिए निश्चित है तो उसकी मानसिक आयु छः या सात वर्ष की मानी जायगी।

किसी बालक की मानसिक आयु का ज्ञान होने के उपरात उसका **मानसिक भजनफल** मालूम किया जा सकता है।

$$\text{मानसिक भजनफल} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वार्षिक आयु}} \times १००$$

अगर किसी बालक की आयु १० वर्ष है और वह ११ वर्षवाले प्रश्न शुद्ध कर सकता है तो उसकी मानसिक आयु ११ वर्ष की हुई और मानसिक भजनफल

$\frac{११}{१०} \times १०० = ११०$ हुआ।

यह निश्चय किया गया है कि जिस व्यक्ति का मानसिक भजनफल १४० या उससे अधिक होता है वह अलौकिक बुद्धिमान् समझा जाना चाहिए। १२० से १४० तक महान् बुद्धिमान्, ११० से १२० उत्तम बुद्धिमान्, ९० से ११० तक साधारण बुद्धि-वाला, ८० से ९० साधारण के लगभगवाला, ७० से ८० मन्द बुद्धिवाला और ७० से नीचे बुद्धिहीन। जिस व्यक्ति का मान-सिक भजनफल २० या २५ के लगभग हो बुद्धि मे उसे पूरा पशु-वत् समझना चाहिए।

विने के सब प्रश्नो का उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सकता। परन्तु नमूने के लिए कुछ प्रश्न लिखे जाते है जिनसे यह पता लग सकता है कि विने ने किन किन बातो के जानने की चेष्टा की थी।

३ वर्ष के लिए—

(१) अपना नाक, मुख, कान.... उँगली से बता सकना।

(२) अङ्क जैसे ४,६ .. ३,७... ६,८... एक वार सुनकर दोहरा सकना।

(३) वालक स्त्री है या पुरुप इस वात का ज्ञान रखता है या नहीं।

(४) अपना नाम वता सकता है या नहीं।

(५) साधारण वस्तुएँ जैसे पैसा, ताला. कटोरा, लोटा पहचानता है या नहीं।

(६) यदि उसे कोई साधारण और सरल तसवीर दिखाई जाय तो उसमे वह दो तीन वात देख सकता है या नहीं।

× × × ×

११ वर्ष के लिए—

(४९) व्याहत और वाहियात वात कहाँ तक पकड़ सकता है—

(क) एक लड़का साइकिल से गिरकर मर गया। पता नहीं अच्छा होगा या नहीं।

(ख) एक लड़की ने अपने को १८ भागो मे काट डाला। कहते है उसने आत्महत्या की।

(ग) एक लड़के ने शनिवार के दिन आत्महत्या नहीं की क्योकि वह दिन अशुभ माना जाता है।

× × × ×

(५०) कठिन प्रश्नो का उत्तर दे सकना—

(क) किसी व्यक्ति को जो कुछ वह करता है उससे, न कि जो कुछ कहता है उससे क्यो ठीक ठीक जान सकते है ?

(ख) कोई कठिन काम करना हो तो उससे पहले क्या करना चाहिए।

× × × ×

(५३) तीन दिये हुए शब्दो का प्रयोग करके एक वाक्य एक मिनट मे बना सकता है या नहीं—जैसे—बनारस, द्रव्य, नदी।

प्रश्न परिस्थिति तथा मानसिक शक्तियो को पूरा ध्यान मे रखते हुए चुने गये है। कुछ प्रश्न सरल गणित, शकल बनाना, तसवीर पहिचानना, तर्क कर सकना, प्रत्याहृत बातो को समझ सकना इत्यादि इत्यादि बातो के बारे में बिने के माप मे रक्खे गये हैं। पूरी ६५ प्रश्नो की सूची को देखने से ज्ञात हो सकता है कि प्रश्नो मे मनोविज्ञान की दृष्टि से कोई त्रुटियाँ नहीं हैं। यदि उनका प्रयोग करना हो तो परिस्थिति मे अन्तर होने से प्रश्नो मे भी फेर-फार करने की आवश्यकता

होगी। हर देश और संस्था मे वही एक प्रश्न नहीं पूछे जा सकते। मानसिक शक्तियाँ मनुष्यमात्र मे वही हैं पर उनका विकास पृथक् पृथक् परिस्थितियो में होता है। प्रश्नो मे मौलिक भेद करने की आवश्यकता बहुत कम है। परन्तु परिस्थिति के अनुसार फेर-फार करना ही पड़ेगा। बर्ट (Burt) ने इंगलेंड मे और टरमेन (Terman) ने अमेरिका मे बिने के माप का संशोधन किया है और उसकी त्रुटियो को दूर करने का प्रयत्न किया है।

अब हम बिने के माप पर कुछ विचार करेंगे।

जैसा हम कह आये हैं, मनोविज्ञान की दृष्टि से बिने ने अपने माप के बनाने में कोई त्रुटि नहीं रखी। परन्तु इस माप को काम में लाने मे बहुत-सी कठिनाइयाँ सामने उपस्थित होती हैं। पहली बात तो यह है कि इस माप का प्रयोग करने मे समय बहुत नष्ट होता है। अगर केवल एक या दो बालकों की जाँच करनी हो तो कोई बात नहीं, परन्तु जब सैकड़ो बालकों की जाँच करनी हो तो एक अध्यापक कितनो की परीक्षा ले सकता है? एक बालक की ही परीक्षा एक समय में की जा सकती है क्योंकि प्रश्न मौखिक पूछने पड़ते हैं। अगर बुद्धि की जाँच विस्तारपूर्वक करनी है तो एक एक करके करना असम्भव हो जायगा। अमेरिका मे फौज की भर्ती के लिए मनोविज्ञानवेत्ताओ से कहा गया था। उन्होने सोच-विचार कर ऐसी परीक्षा-प्रणाली निकाली कि जो एक

साथ बहुत-से व्यक्तियों को दी जा सके। जैसे साधारण परीक्षा प्रश्न-पत्र-द्वारा की जाती है वैसे बुद्धि-परीक्षा भी प्रश्न-पत्र-द्वारा होने लगी। मनुष्यो के बड़े बडे समूहो की बुद्धि-परीक्षा पहले-पहल अमेरिका मे की गई। फिर सामूहिक परीक्षा का प्रयोग दूसरे देशो मे भी होने लगा। सामूहिक परीक्षा के मापो को भी प्रामाणिक बनाया गया है।

वर्तमान काल मे सामूहिक परीक्षा के कई एक माप काम मे लाये जाते है। टरमेन ने अमेरिका में टरमेन-समूह-परीक्षा-पत्र तैयार किये है। इँगलेड मे वैलार्ड (Ballard) ने चेलसी (Chelsea) परीक्षा माप, वर्ट और टामसन (Godfrey Thomson) ने नार्थम्बरलेड परीक्षा माप इत्यादि बनाये है। समूह-माप का अब पाठशालाओ में बहुत प्रयोग होने लगा है। समूह-माप से कम समय में बहुत-से बालकों की परीक्षा की जा सकती है। परन्तु यह अवश्य मानना पड़ेगा कि पूरी जॉच जुदे-जुदे बालको की अलग-अलग ही की जाय तभी हो सकती है। सामूहिक परीक्षा लेने के उपरान्त जिन बालको की बुद्धि के माप मे सदेह होता है उनकी बुद्धि को बिने-मापन के द्वारा निश्चय किया जा सकता है। प्राय: यह किया भी जाता है।

समूह-मापन के बनाने मे भी उन्हीं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो को ध्यान मे रक्खा गया है जिन्हे कि बिने ने ध्यान मे रक्खा था। अगर बिने जीवित रहता तो वह स्वयं ही समूह-माप

तैयार कर देता। किसी समूह-माप को पूरा पूरा तो यहाँ नहीं लिखा जा सकता परन्तु कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते है।

निम्नलिखित परीक्षाएँ टामसन के नार्थम्बरलेड-मापन से चुनी गई है :—

(१) नीचे लिखी शब्दावली की श्रेणी में से उस शब्द को काट दो जो श्रेणी में उचित न प्रतीत होता हो :—

बाल पर ऊन घास लट

दान दया क्षमा बदला प्रेम

× × × ×

(२) नीचे लिखी अङ्कमाला मे जो अङ्क अपनी श्रेणी में उचित न प्रतीत होता हो उसे काट दो :—

२६ ३ ७ ३९ १३ ५२

१८ २२ ३० २४ ६ १२

× × × ×

(३) नीचे लिखी प्रत्येक लकीर के पहले दो शब्दो में कुछ सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध को मालूम करो और दिये हुए शब्दो में जिस शब्द का तीसरे शब्द के साथ वही सम्बन्ध हो उसके नीचे लकीर खींचो।

बन्दूक़ : निशाना लगाना : : चाकू : दौड़ना, काटना, चिड़िया, टोपी।

जूता : पैर : : टोपी : कोट, नाक, सर, कालर।

× × × ×

ये तीन परीक्षाएँ केवल नमूने के लिए दी गई है। हर परीक्षा मे कितने ही अङ्क और श्रेणियाँ होती है। यह सब प्रश्न-पत्र की तरह छपा हुआ रहता है और प्रत्येक बालक को एक एक प्रश्न-पत्र बाँट दिया जाता है। हर प्रकार की परीक्षा के लिए नियत समय दिया जाता है और उतने समय मे बालक जितना पूरा कार्य कर सकता है उतना कर डालता है। सब मापन प्रमाणानुसार किये गये है और उनसे यह मालूम किया जा सकता है कि अमुक प्रश्नो का शुद्ध उत्तर देने से बालक की मानसिक आयु अमुक है।

ऊपर लिखे हुए मापो का प्रयोग करने मे एक कठिनाई और बीच मे आ पड़ती है। इन सब प्रश्नो को समझने और उनका उत्तर देने के लिए यह आवश्यक है कि बालक को भाषा का ठीक बोध होना चाहिए। भाषा के ज्ञान बिना इन परीक्षाओ मे सम्मिलित होना असम्भव है। इस बात को ध्यान मे रखकर निरक्षर बालक तथा गूँगे, बहरे इत्यादि के लिए, जिन्हे भाषा अच्छी तरह नही आती, कुछ हाथो से कर सकने योग्य परीक्षाएँ बनाई गई है। ड्रीवर (Drever) ने बहरे और गूँगे बालको के लिए मापन बनाया है और उसे प्रमाणित किया है।

किसी नई बात के आरम्भ करने मे कठिनाइयाँ सामने अवश्य आती हैं। बुद्धि-परीक्षा के काम मे जो कठि-नाइयाँ सामने उपस्थित हुई है उन्हे मनोविज्ञानवेत्ताओ ने

सुलझाने का पूरा प्रयत्न किया है। मापन मे जो जो त्रुटियाँ पाई जाती हैं उनका निवारण करने की बरावर चेष्टा की जा रही है। पश्चिमी देशो मे बुद्धि-परीक्षा बहुत कुछ की जा रही है और इस परीक्षा से कुछ महत्त्वपूर्ण बातो का पता लगा है जिन पर अब हम विचार करेंगे।

एक बात तो यह है कि इस मापन-द्वारा बालकों की मानसिक शक्ति का बहुत कुछ पता लग सकता है। उस मानसिक शक्ति के समूह को, जिसका पता हम परीक्षा-द्वारा लगाते है, हम चाहे बुद्धि कहे चाहे मनीषा। परीक्षा से यह बात और ज्ञात होती है कि बुद्धि, जिसे कि हम जाँचते है, भिन्न भिन्न बालको मे भिन्न भिन्न परिमाण मे होती है। किसी बालक में यह बुद्धि कम होती है और किसी मे अधिक। यह बुद्धि बालक को परम्परा से प्रदान होती है और इसकी वृद्धि हमारे हाथ मे नहीं है। स्कूल मे सिखाने-पढ़ाने से इस बुद्धि का विकास होता जाता है। परन्तु इसमें वृद्धि नहीं हो सकती। किसी बालक के मानसिक भजनफल को पाठशाला की शिक्षा घटा-बढ़ा नहीं सकती। यह बात कई बार कितने ही बालकों की परीक्षा करके निश्चित की गई है। एक ही बालक की भिन्न भिन्न आयु में शिक्षा से पाये हुए मानसिक भजनफल का अनुबन्धक गुणांक ९ से ऊपर ही पाया जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि मानसिक भजनफल में परिवर्तन नहीं होता।

दूसरी वात यह है कि मानसिक आयु १६ वर्ष की आयु के उपरान्त वढ़ना वन्द हो जाती है। कुछ मनोविज्ञानवेत्ता कहते है १४ या १५ ही वर्ष पर वृद्धि समाप्त हो जाती है, कुछ कहते है १६ या १८ वर्ष तक वुद्धि वढ़ सकती है। यह अवश्य है कि जितना वुद्धिमान् वालक होगा उतनी ही अधिक आयु तक उसकी मानसिक आयु मे वृद्धि होगी। मन्द वुद्धि के वालक अपनी अधिक से अधिक मानसिक आयु पर १४ वर्ष मे पहुँच जाते है। परन्तु उत्तम और महान् वुद्धिमानो की मानसिक आयु १८ वर्ष तक वढ़ती है

वुद्धि के मापन-द्वारा हम वालक की वुद्धि का पता अवश्य लगा सकते है परन्तु वालक के मन का पूरा ज्ञान हम नही प्राप्त कर सकते। मन की दो मुख्य वृत्तियॉ होती है एक वुद्धि-विषयक और दूसरी भाव-विषयक।, हम इन मापो से केवल वुद्धि-विषयक वृत्ति का पता लगाते हैं। वालक की भाव-वृत्ति क्या है, उसका स्वभाव कैसा है, उसका चरित्र किस प्रकार का है—इन वातो का पता इन मापो से नही लग सकता। वालक वुद्धिमान् होते हुए भी दुश्चरित्र हो सकता है और मन्दवुद्धि होते हुए भी वह सुचरित्र हो सकता है। वुद्धिमान् और सुचरित्र दोनो होने से व्यक्ति आदर्श होता है। चरित्रसंगठन, जैसा पहले कह आये हैं, इस वात पर निर्भर होगा कि वालक की प्राकृतिक वृत्तियो का विकास कैसी परिस्थिति मे हुआ है। भाववृत्ति के मापने का प्रयत्न भी

किया जा रहा है परन्तु अभी यह काम ऐसी स्थिति मे नहीं पहुँच पाया कि उससे ऐसे परिणाम निकल सके हो जिनसे अध्यापक को शिक्षा के कार्य में अधिक सहायता मिल सके।

बुद्धिमापन के कार्य से कुछ बातें ऐसी विदित होती है जिन पर अध्यापक को ध्यान देना चाहिए और जिनका उसे अपने कार्य मे प्रयोग करना चाहिए। हम कह चुके है कि मानसिक भजनफल पाठशाला मे पढ़ाने-लिखाने से बढ़ाया नहीं जा सकता। प्राचीन काल के अध्यापको का यह विश्वास था कि वे बालक को अधिक बुद्धिमान् बना सकते थे। विद्वान् बनाना पाठशाला के हाथ मे अवश्य है पर बुद्धिमान् बनाना नहीं। अब यदि बालक को अधिक बुद्धिमान् नहीं बनाया जा सकता है और यदि उसकी परम्परा से प्राप्त बुद्धि में परिवर्तन नहीं किया जा सकता तो स्थूल दृष्टि से यह मालूम होता है कि अध्यापक के करने के लिए कोई अधिक काम नहीं रह गया। परन्तु वास्तव में अध्यापक का कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है। एक ऐसी परिस्थिति उपस्थित करना जिसमे बालक अपनी बुद्धि का पूरा प्रयोग कर सके, बालक को इस प्रकार सिखाना कि उसकी बुद्धि के योग्य जो बातें है वही सब उसे करने को मिलें और उसके जीवन का अमूल्य समय वृथा को नष्ट न किया जाय,—ये बातें अध्यापक के पूरे ध्यान देने योग्य हैं। फिर रहा बालक के व्यवसाय का प्रश्न। व्यवसाय

का प्रयोग करने के लिए वालक को उचित सीमा तक उत्तेजित करना भी अध्यापक ही का काम है। वालक का चरित्र वनाना और जिस देश और समाज मे उसे रहना है उसको उसके उपयोगी वनाना यह भी पाठशाला का ही कर्तव्य कर्म है।

पाठशाला के साधारण शिक्षण के काम मे भी बुद्धि-परीक्षा से ज्ञात हुई कुछ वातो को ध्यान मे रखा जाना आवश्यक है। हमको यह वात ज्ञात है कि वालकों की मानसिक शक्तियो मे अन्तर है। उस अन्तर को अगर हम ध्यान मे न रक्खे और दरजे मे काम करते समय 'सव धान वाईस पसेरीवाली' कहावत के अनुसार काम करे तो समय भी नष्ट होगा और वालको को पर्याप्त लाभ भी न होगा। वालको की मानसिक शक्ति मे अन्तर होने के कारण हमें हर एक वालक को एक पृथक् व्यक्ति मानना पड़ेगा। वालक के व्यक्तित्व को ध्यान मे रक्खे विना हम अपने कार्य मे सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। पहले तो हमको मापो-द्वारा इस वात का पता लगाना चाहिए कि कौन-सा वालक कौन सी श्रेणी का है। कोई दो वालक एक-से न होगे। फिर यह वात भी हमको मापन से ज्ञात हो सकती है कि किसी वालक के आगे न वढ़ने का कारण उसका बुद्धिहीन होना है या और कोई वात जैसे व्यवसाय का प्रयोग न करना इत्यादि।

बुद्धिहीन और मन्द बुद्धिवाले बालको के लिए विलायत में अलग स्कूल है। जॉच कर लेने के उपरान्त ये बालक वहाँ भेज दिये जाते है। वहाँ उनकी पढ़ाई उनकी बुद्धि के अनुसार होती है। जब यहाँ भी बुद्धि-मापन का उपयोग किया जाने लगेगा तब इस देश में भी ऐसे स्कूल खोले जा सकेगे। साधारण स्कूलो के विद्यार्थियो को पढ़ाते समय भी उनकी बुद्धि के व्यक्तिगत अंतरो का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। बुद्धिमान् बालको को छॉटकर उनके योग्य कठिन काम देना उतना ही आवश्यक है जितना कि मन्द बुद्धिवालो को उनके उपयुक्त सरल काम का देना है। सच पूछा जाय तो कुल दरजे के बालको को एक साथ हर समय पढ़ाना उपयोगी नहीं माना जा सकता। वर्तमान काल मे बालको को पृथक् पृथक् काम देकर उन्हे अलग अलग अपना काम करने देने की प्रथा बढ़ती जा रही है। व्यक्तित्व पर जितना ध्यान दिया जायगा उतना ही अधिक ध्यान इस प्रकार की व्यक्तिगत शिक्षा पर देना पड़ेगा। कभी बालको को एकत्रित करके पढ़ाना उपयोगी होगा, और कभी उनको जुदा जुदा काम देकर। पहले जुदा काम देने की प्रथा कम थी किन्तु अब वह बढ़ती जाती है।

१४—बालकों के कुछ साधारण दोष और उनका विश्लेषण

XIV Some Common Faults of Children and their Analysis

बालक की मनोवृत्तियो और उसकी मानसिक शक्तियो के बारे मे हम अपने विचार प्रकट कर चुके है। बालक के मनोविज्ञान का ज्ञान होने से अध्यापक को कितना लाभ हो सकता है यह बात धीरे धीरे स्पष्ट कर चुके है। मनोविज्ञान के जानने से यह विदित हो जाना है कि एक जीवित जाग्रत वस्तु के साथ, जिसकी कि शक्तियो का विकास एक विशेष प्रकार से होता है, कैसा व्यवहार करना चाहिए। मनोविज्ञान के द्वारा अध्यापक जिस शिक्षा-प्रणाली का प्रयोग करता है उसका सिद्धान्त भी समझ सकता है। एक मशीन को मिस्त्री चला सकता है और सीखा हुआ इंजीनियर भी। इंजीनियर जो करता है उसे समझता भी है। मिस्त्री केवल यन्त्रवत् काम करता है। इसी प्रकार जो अध्यापक बालक-सम्बन्धी मनोविज्ञान जानता है वह मिस्त्री की तरह नही बल्कि इंजीनि-यर की तरह बालक से व्यवहार करता है। वह जो नियम काम मे लाता है उनका मौलिक कारण भी समझता है। इस

कारण जब उसके सम्मुख कोई नये प्रकार की कठिनाई उपस्थित होती है तो वह उसे समझ सकता है और उसका उचित उपाय कर सकता है।

सभी बालकों मे एक ही प्रकार की प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ होती हैं किन्तु उनका विकास पृथक् पृथक् परिमाण में होता है। बालक अभिप्राय को समझनेवाला और अभिप्राय को सामने रखकर कार्य करनेवाला प्राणी है। दो बालको के सम्मुख एक ही उत्तेजना उपस्थित होने से उनका व्यवहार एक ही-सा होना आवश्यक नहीं है। एक ही व्यक्ति भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न भिन्न व्यवहार करता है। किसी विशेष प्रकार का व्यवहार क्यो हुआ, वह उचित है या अनुचित, अनुचित है तो उसे उचित मार्ग में किस प्रकार लाना चाहिए—यह सब अध्यापक को जानना चाहिए। अब हम बालको के कुछ उन व्यवहारो का, जो प्राय: अध्यापक के सम्मुख समस्याओ के रूप मे उपस्थित होते है और उसे चिन्ता में डालते है, उल्लेख करेंगे और यह भी बतावेंगे कि किस समय अध्यापक को क्या उपाय करना चाहिए। परन्तु जो कुछ पाठक के सम्मुख उपस्थित किया जाता है उसे नियमावली न समझ लेना चाहिए। समझदार अध्यापक को सदा कठिनाई के ऊपर विचार करना चाहिए और काल और पात्र के अनुसार व्यवस्था करनी चाहिए। यहाँ लिखी हुई बातें केवल विचार को उत्तेजित करने के लिए है।

अध्यापक के दो मुख्य कार्य है। बालको को विद्या प्रदान करना और उनको सुचरित्र व्यक्ति बनाना। इस उद्देश्य से बालको को कुछ मुख्य विषय सिखाने पड़ते हैं और शासन करना पड़ता है। जिन बातो पर हम विचार करेंगे वह इन्हीं मामलो से सम्बन्ध रखती है। इन बातो के ऊपर विस्तार-पूर्वक विचार तो शिक्षा-पद्धति और शासन-प्रणाली की पुस्तको मे हो सकता है, पर मनोविज्ञान जाननेवाले अध्यापक को हर घटना का विज्ञान की दृष्टि से विश्लेषण करना चाहिए। इसलिए हम संक्षिप्त रूप से इन बातो पर कुछ विचार करना आवश्यक समझते है।

अध्यापक प्राय यह अनुभव करता है कि बालक ठीक ठीक अपना पाठ नही पढ़ते, पढ़ने मे अशुद्धियाँ करते हैं, गणित उनकी समझ मे नही आता। दरजे मे बालक ध्यान नहीं देते। काम मे शिथिलता करते है। कभी कभी छोटी छोटी बातो के बारे मे झूठ बोलते है या छोटी मोटी वस्तुएँ चुरा लेते है इत्यादि इत्यादि। बहुत-से ऐसे दोषो के असली कारणो का पता हमे मनोविज्ञान से लग सकता है। ठीक कारणो का विश्लेषण हो जाने से उनका उचित उपाय भी हो सकता है। नहीं तो जहाँ प्यार और सहानुभूति से काम लेना चाहिए वहाँ दण्ड दे दिया जाता है, और दोष निवारण न होकर बढ़ जाता है। अतएव बालको के सुधार के लिए उनकी रुचि और मनोवृत्तियो को ठीक ठीक समझना चाहिए।

(१) **झूठ बोलना**—सत्यवादी होना संसार में सभी उत्तम समझते है। अगर बालक झूठ बोलता है तो माता-पिता और अध्यापक को खेद होता है, और वे उस बुरी आदत को बालक से छुड़ाना चाहते है। बालक घर पर रक्खी हुई मिठाई खा लेता है, या शीशे का गिलास तोड़ डालता है, स्कूल में स्याही की दवात गिराकर तोड़ देता है और यह नहीं कहता कि यह अपराध मैंने किया है। पूछने पर झूठ बोल देता है 'मैंने नहीं किया।' क्रोध मे आकर अध्यापक या माता-पिता उसे थप्पड़ मार देते है और आशा करते है कि मार खाकर वह झूठ बोलना छोड़ देगा। सम्भव है कि कभी कभी दण्ड से सफलता मिल जाय। परन्तु मामला विचार करने योग्य है और हर समय दण्ड देना उचित भी नही है।

बालकों के झूठ कई प्रकार के होते है। उनके झूठ मे और बड़ो के झूठ मे कुछ अन्तर भी होता है।

(१) कभी बालक को 'नहीं, मैंने नहीं किया' यह कहने की यन्त्रवत् आदत पड़ जाती है और वह विना सोचे-विचारे बार बार यही कह उठता है 'मैंने नहीं किया' चाहे उसका विचार ऐसा कहने का हो या नहीं। बालक के व्यवहार का कई बार ध्यान से निरीक्षण करने से इस बात का पता लग सकता है।

(२) कभी कभी बालक 'मैंने नहीं किया' कहते समय यह भी साथ में कहता है कि 'अमुक ने किया है।' 'भाई ने तोड़ा है,

या मास्टर साहब आये थे। उनसे टूट गया' इत्यादि। अपनी जगह दूसरे को स्थापित कर देता है। प्राय. यह पाया जाता है कि वह ऐसे व्यक्ति के सिर दोष देता है जिसके ऊपर आपत्ति नहीं आ सकती। इससे तुरन्त पता लग जाता है कि वह अपने सिर से आपत्ति हटा रहा है। मार-पीट से ऐसे समय काम नहीं चलता। सहानुभूति से सच बात का पता लगाया जा सकता है।

(३) अधिकतर बालको के झूठ डर की प्रवृत्ति के कारण बोले जाते है। मार का डर नहीं परन्तु डर की प्राकृतिक प्रवृत्ति के कारण। कभी डर इस बात का रहता है कि जो व्यक्ति उससे प्रसन्न हैं, जिनमें उसे सदा रहना है, वे उससे अप्रसन्न हो जायँगे। उसे डर यह लगता है कि बात को सच कह देने से जिस समूह मे वह रहता है उसमे गड़बड़ी पड़ जायगी और उसका सुखमय जीवन दुखी हो जायगा। ऐसी स्थिति मे अगर मार-पीट हो जाती है तो आपत्ति और बढ़ जाती है और वह आगे चलकर ऐसे षड्यन्त्र रचता है जिसमें वह झगड़े से अवश्य ही बच जाय। यदि वह सामाजिक समूह, जिसमें वह रहता है, उसे किसी प्रकार यह विश्वास करा दे कि सत्यवादी होने से सब लोग प्रसन्न होगे तो उसका डर जाता रहेगा और वह सच बोलना उचित समझेगा। कारण यह है कि वह निश्चय रूप से यह समझ जायगा कि ऐसा करने से उसके समूह की प्रसन्नता में किसी प्रकार का विघ्न

नहीं पड़ेगा। बालक को सदा यही विश्वास दिलाना उचित है कि सब लोग उसका भरोसा करते है।

(४) कभी कभी बहुत-सी उन बातो का जिन्हे हम झूठ समझते हैं कारण यह होता है कि बालक की अपने भाव और विचार प्रकट करने की शक्ति ठीक नहीं होती। वह अपने विचारों को ठीक तरह प्रकट नहीं कर सकता। कहना कुछ चाहता है और कह कुछ जाता है। सुननेवाले यह समझते हैं कि वह बात छिपा रहा है और झूठ बोल रहा है। ऐसे बालक का निरीक्षण करके उसे अपने भावों को ठीक प्रकट करने का अभ्यास कराना चाहिए।

(५) छोटे बालक और विशेषकर वे जिन्हे कल्पना करने की बहुत रुचि होती है अकसर अपने खेल की दुनिया को वास्तविक संसार मे मिला देते हैं और कल्पित बातें कहते हैं जो हमे झूठ प्रतीत होती है। बालक झूठी घटनाओ के बारे में बात करता है। अगर वह कहीं मेले में या यात्रा में गया हो और लौटने पर उससे कहा जाय कि अपने अनुभव सुनावे तो बहुत-सी झूठी गप्पें कह डालेगा। ऐसे बालक को औत्प्रेक्षिक विचारो से दूर कर वास्तविक विचारों पर लाने की चेष्टा करनी चाहिए।

हर मामले को बालक की आयु और समझ के अनुसार सुलझाने का प्रयत्न करना चाहिए। बड़े बालकों को विश्वास दिलाकर और समझाकर काम लेने से

लाभ हो सकता है। उन पर वृथा क्रोध करने से काम नहीं चलता।

(२) **चोरी करना**—बालक के चोरी करने और बड़ों के डाका मारने मे भी थोड़ा-सा अन्तर है। यद्यपि यह सच है कि छोटे चोर से ही होते होते मनुष्य बड़ा डाकू बन सकता है। यदि चोरी बिना अभिप्राय के आरम्भ होती है तो भी आगे चलकर दूसरा रूप धारण कर लेती है। इसलिए आरम्भ ही से बालक को चोरी से बचाना चाहिए।

छोटे छोटे बालक या तो घर पर मिठाई और खेलने की वस्तुएँ चोरी करते है या स्कूल मे चाकू, पेंसिल, कलम, कापी, इत्यादि उड़ा देते है। बहुत-सी छोटी छोटी वस्तुएँ उनको आकर्षित करती है और उन्हे वे अपनाने की चेष्टा करते है। 'दूसरे के पास जो वस्तुएँ है मेरे पास भी होनी चाहिए' यह बात बालक के मन में उत्पन्न होती है। कभी जिज्ञासा के कारण और कभी ममता के कारण बालक वस्तु को हथिया लेते है। ऐसे व्यवहार की जड़ केवल उसकी प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ है और उसके व्यवहार मे केवल उन्ही का विकास प्रतीत होता है। उचित ओर व्यवहार होने से हमे वह उत्तम जान पड़ता है और अनुचित ओर जाने से वह दोषी प्रतीत होता है। जो बालक स्कूल मे इस प्रकार की चोरी करते है उनके बारे मे पहले तो यह जानना चाहिए कि वे किस प्रकार के घरो से आते है और उनकी दीक्षा कैसी रही है। जो बालक

वस्तुओ को अपनाने की चेष्टा से चोरी करता है उसके लिए उपाय यही है कि कुछ वस्तुएँ उसे अपनाने के लिए दी जायँ और उसे यह विश्वास करा दिया जाय कि वह उसकी ही है, वह उनका मालिक है, उसे उन्हे सँभालकर रखना चाहिए। बालक को अपनी वस्तु की वास्तविक ममता होने से वह दूसरे की ममता का भी अनुभव कर सकता है। अपनी वस्तु को अपनी समझना ठीक होने से यह भी समझ में आने लगता है कि दूसरे की वस्तु उसकी नहीं है। बहुत-से चोर बालक स्कूल में विश्वसनीय काम पर नियुक्त किये जाने पर ठीक हो जाते हैं।

एक विशेष अवस्था पर पहुँचकर बालक मे अपने को दूसरो को दिखाने की प्रवृत्ति ज़ोर करने लगती है। अपने साथियो में वह अपने को शानदार दिखाने का प्रयत्न करता है। कभी अपने साथियो को पैसे दे दिये, कभी अपने साथियो के पास जैसी वस्तु है (किताब, रूमाल, टोपी इत्यादि) उससे अच्छी और अधिक मूल्यवाली खरीदकर दिखाई। ऐसा करने के लिए पैसो की आवश्यकता होती है। 'माता या पिता से माँगेगे तो न मिलेगा,' इसलिए डरते डरते माता के बटुवे में से या पिता की जेब में से रुपया दो रुपया निकाल लिया जाता है। ऐसा करते समय बालक केवल अपने को बड़ा दिखाने के भाव से उत्तेजित होता है। उसका और कोई अभिप्राय नहीं होता। और जो कुछ वह करता है उसके दोष-गुण का उसे ज्ञान भी

नहीं होता। अज्ञानी चोर की तरह चोरी करता है। बालक के लिए कुछ उचित जेब-खर्च बाँध देने से, जिसको कि वह मनमानी रीति से व्यय कर सके, बहुत लाभ हो सकता है। थोड़ी-सी ममता पैसो के लिए उत्पन्न होने से उसमें बचाने की आदत भी हो जाती है।

कुछ चोरियाँ बालकपन मे अज्ञान और नासमझी के कारण होती है। कुछ समय तक बालक को इस बात का ज्ञान नही होता कि वस्तुएँ बाज़ार से मोल ली जाती है। बहुतेरे छोटे बालक यह समझते है कि बाज़ार से वस्तुएँ केवल 'लाई जाती' है। द्रव्य कहाँ से आता है या लेना-देना क्या है इसका उन्हे ज्ञान नहीं होता। वे केवल अपनी ममता की तृप्ति करने के लिए वस्तुओ को अपना लेते है।

घर के दुख और माता-पिता की लापरवाही के कारण भी बालक बहुत चोरी करना सीख जाते है। बहुत सी बाते सामाजिक है जिन पर यहाँ विचार करने की आवश्यकता नही है। बड़ा बालक जब पहले पहल चोरी करता है और पकड़ा जाता है तो उसे खेद भी बहुत होता और उसके मन पर असर भी गहरा होता है। बालक की प्रकृति के अनुसार उसे ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(३) **आलस्य और शिथिलता**—कभी कभी ऐसा देखने मे आता है कि दरजे मे कोई कोई बालक ऐसे होते हैं जो शिथिल बैठे रहते हैं। किसी काम में मन नहीं लगाते। जिधर

दूसरे बालक जाते है वे उधर जाना पसन्द नहीं करते और चुपचाप बैठे रहते है। कुछ दुख, कुछ क्रोध, कुछ निर्जीविता, सब मिली-जुली उनके मुख से टपकती है। ऐसी स्थिति पर विचार करने के लिए हम यह मान लेते हैं कि अध्यापक बालको का ध्यान आकर्षित करने में प्रयत्नशील है और शिक्षा का कार्य बालको की रुचि के अनुसार करा रहे हैं।

इस दशा का पहला कारण तो कोई शारीरिक दोष हो सकता है। ऐसे बालको को डाक्टर को दिखा लेना चाहिए। इसके उपरात उनकी बुद्धि-परीक्षा होनी चाहिए। अगर वे मन्दबुद्धि या बुद्धि-विहीनवाली श्रेणी के है तो वे उस कक्षा और स्कूल के योग्य नहीं है। उनसे जो काम कराया जाता है उसमें उन्हे कदापि रुचि नहीं आ सकती। उनके लिए शिक्षा का अलग प्रबन्ध करने से उनकी दशा सुधर सकती है।

कभी ऐसा भी देखा जाता है कि साधारण बुद्धिवाले बालकों की दशा भी ऐसी हो जाती है। उन्हे कोई शारीरिक कष्ट भी नहीं होता। ऐसे बालको की मानसिक स्थिति का विश्लेषण करने की आवश्यकता होती है क्योकि दोष का कारण मानसिक ही होता है। भाववृत्ति का कुछ न कुछ दौरा होता है। बालक मे कुछ अंतःक्षोभिक विकार उत्पन्न हो जाता है। घर पर और स्कूल में उसे कुछ ऐसे अनुभव होते है और उसके साथ कुछ ऐसा व्यवहार किया जाता है कि जिससे उसके मन मे अपरत्व का भाव उत्पन्न हो जाता है और वह अपने

को हर बात मे लघु समझने लगता है। ऐसा होने से उसका मन वास्तविकता से भागता है और वह अपने को हर बात से दूर रखने की चेष्टा करता है। जिन व्यवहारो और कारणो से ऐसी मानसिक दशा उत्पन्न होती है उनके ज्ञात हो जाने से यह दोष निवारण किया जा सकता है। ऐसी दशा मे अध्यापक को सहानुभूति से काम लेना चाहिए नही तो दोष और बढ़ जाता है।

(४) अनाज्ञाकारी बालक और स्वतंत्र शासन प्रणाली—कितने ही बालक ऐसे मिलते है जिनके बारे मे हमारा यह अनुमान होता है कि वे आज्ञाकारी नहीं है। आज्ञाकारी बालक को सभी चाहते है। 'बड़ो की आज्ञा मानो' यह उपदेश बालको को समय समय पर दिया जाता है।

बालक को किसी काम के लिए कहा जाता है किन्तु वह मना कर देता है। अध्यापक उससे याद करने या सवाल लगाने को कहता है। किन्तु वह नहीं करता। आज्ञा न मानने में बालक का क्या अभिप्राय रहता है? इस सम्बन्ध मे उसे याद रखना चाहिए कि छोटा बालक न तो आज्ञा का अर्थ समझता है और न उसका व्यवहार आज्ञा भग करने के अभिप्राय से होता है।

आज्ञा न मानने के कितने ही कारण हो सकते है। पहला तो यह कि बालक को, एक कार्य से,—जिसमें वह लगा होता है, अपने मन को हटाकर दूसरे मे लगाते समय कुछ विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। मन लग जाने के बाद उसे

हटाने में व्यवसाय की आवश्यकता पड़ती है। फिर आज्ञा का मानना इस पर भी बहुत कुछ निर्भर है कि कार्य कैसा है और उसमे बालक की रुचि कहाँ तक है। हम यह समझने लगते है कि सवाल न लगाकर बालक आज्ञा का पालन नहीं करता इसलिए वह अपराध करता है, परन्तु यह सच नहीं है। वास्तव मे वह रुचि न होने के कारण सवाल नहीं लगाता। अध्यापक को चाहिए कि काम में रुचि दिलावे। बड़ा होने पर बालक व्यवसाय का उपयोग कर सकता है।

आज्ञा न पालन करने का एक कारण और भी होता है। बहुत से माँ-बाप और अध्यापक भी बालको को स्वयं बिगाड़ते हैं। बिगाड़ने की मुख्य रीति बालको को घूस देकर काम कराना है। 'अगर दवाई खा लोगे तो एक पैसा मिलेगा, अगर सवाल निकाल लोगे तो सायंकाल को खेलने को भेजेंगे, अगर पाठ याद कर लोगे तो लड्डू दे देंगे' इत्यादि प्रयोग ऐसे है जिन्हे किसी विशेष अवसर पर काम मे लाना बात दूसरी है, परन्तु बालक को इनके अधीन कर देना उसे अपङ्ग और अनाज्ञाकारी बनाना है।

कभी आज्ञा न मानने का कारण कुछ और ही होता है। मनुष्य की प्रकृति है कि अगर उससे कोई बात छिपाई जाय या न करने को कहा जाय तो उसके विरुद्ध करने की प्रेरणा होती है। अगर बालक से कहा जाय कि किताब खोलकर न देखना, तो वह अवश्य देखने की चेष्टा करेगा। विरुद्ध सूचना

ज़ोर कर जाती है। अध्यापक को आज्ञा देने में सावधान रहना चाहिए। आज्ञा जहाँ तक हो 'ऐसा करो' होनी चाहिए न कि 'ऐसा मत करो'। फिर आज्ञा देने की रीति ऐसी होनी चाहिए जिससे बालक को किसी प्रकार का संकेत न मिले।

बालक को बहुत-सी आज्ञाएँ देना अथवा बार बार वही आज्ञा देना उचित नहीं है। बहुत आज्ञा दे-देकर काम कराने से बालक की रुचि जाती रहती है और वह चित्त से काम नहीं करता, भाड़े के टट्टू की तरह आज्ञा पालन करता है। असली बात जो अध्यापक और स्कूल-मात्र को करनी चाहिए वह यह है कि धीरे धीरे बालक में उत्तरदायित्व का भाव उत्पन्न करे। बालक को जब यह ज्ञान होगा कि उसे अपने व्यवहारों का अपने ही को उत्तर देना है तब वह ठीक मार्ग पर जा सकेगा। बालक की आयु बढ़ने से यह भाव उसमे पूर्ण रूप से उत्पन्न हो जाता है। परन्तु यह न समझना चाहिए कि यह भाव बड़े होने ही पर उत्पन्न हो सकता है। यह भाव छोटे छोटे और प्रतिदिन के व्यवहारो ही द्वारा उत्पन्न कराया जा सकता है और बाल्या-वस्था ही से इसकी नींव पड़नी चाहिए।

आजकल बालक मे इस भाव को उत्पन्न करने के उद्देश्य से स्कूल की शासन-प्रणाली मे बहुत-सी बाते जारी की जा रही हैं। स्कूल के बहुत-से शासन-सम्बन्धी कार्य ऐसे हैं जिनका भार बालक ही पर छोड़ा जा सकता है। बालकों में

धीरे धीरे आत्म-सम्मान का स्थायी भाव बहुत-सी संस्थाओं-द्वारा उत्पन्न कराया जा सकता है। इन संस्थाओं और प्रणालियों का वर्णन करने की यहाँ जगह नहीं है पर अध्यापक को अब यह समझ लेना चाहिए कि मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से यह स्पष्ट हो गया है कि स्कूल के शासन में और अपने चरित्र-गठन में बालक को पूरा पूरा भाग लेना चाहिए।

अब हम स्कूल के विषयों की शिक्षा-शास्त्र-सम्बन्धी बातों पर विचार करेंगे। पश्चिमी देशों में जैसे बुद्धि-परीक्षा के लिए मापन तैयार किये गये हैं, उसी प्रकार उन सब विषयों के ऊपर, जो कि पाठशाला में पढ़ाये जाते हैं, कुछ परीक्षाएँ तैयार की गई हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से जो त्रुटियाँ साधारण परीक्षाओं में हैं इन परीक्षाओं के बनाने में उनको निवारण करने की चेष्टा की गई है। हर विषय के ऊपर परीक्षाएँ तैयार की गई हैं और उन्हें हजारों बालकों से कराकर मापन को प्रामाणिक बनाया गया है। विलायत की पाठशालाओं की शिक्षा-प्रणाली हमारे यहाँ से पृथक् है, विषय भी कुछ भिन्न भिन्न हैं, इसलिए उन परीक्षाओं का उल्लेख करना वृथा है। हाँ, यह कहना अनुचित न होगा कि अब वह समय आ गया है जब हम इन प्रान्तों में जो विषय सिखाये जाते हैं उन पर परीक्षाएँ बनाकर उन्हें प्रामाणिक बनायें जिनसे हमारी परीक्षा-प्रणाली में मनोविज्ञान की दृष्टि से सुधार हो।

हर विषय के सीखने मे बालक के सम्मुख कुछ न कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती है। कुछ कठिनाइयाँ कई विषयो में समान होती है, कुछ हर एक विषय मे निराली होती है। अध्यापक इन कठिनाइयो के मनोवैज्ञानिक कारणो को जान लेने पर उनके निवारण का उचित प्रबन्ध कर सकता है। उदाहरणार्थ हम दो एक विषयो के बारे मे विचार करेंगे।

केवल यह जान लेना कि बालक किसी विषय में कमजोर है, पर्याप्त नहीं है। हर एक विषय मे कितनी ही मानसिक शक्तियो का प्रयोग होता है, जैसे निरीक्षण करना, समझना, कल्पना करना, तर्क करना इत्यादि। बालक किसी मानसिक व्यापार को तो ठीक तरह से कर सकता है किन्तु किसी किसी में उसे कठिनाई होती है। जब तक अध्यापक हर विषय के आवश्यक मानसिक व्यापारो को जानकर उनका विश्लेषण नहीं कर सकता तब तक न तो वह बालक के दोष-गुण को ही समझ सकता है और न दोषो के निवारण का उपाय ही कर सकता है। पढ़ने (भाषा विषय के अङ्ग) को ले लीजिए। किसी बालक से एक पाठ पढ़कर सुनाने को कहा जाता है। वह ठीक पढ़कर नहीं सुना सकता। अब अगर अध्यापक जानता है कि पढ़ने मे किन किन कारणो से दोष उत्पन्न हो सकते हैं और उनमे से कौन से उस बालक में हैं तभी वह उनके निवारण की उचित चेष्टा कर सकता है।

पढ़ने में चार मुख्य गुण माने गये है। (१) शुद्ध **उच्चारण और** ध्वनि के साथ पढ़ सकना। सच पूछा जाय तो पढ़ने का यह यन्त्रवत् गुण है। इस गुण में अधिक मानसिक व्यापार की आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि बालक के पढ़ने मे दोष है तो ठीक ध्वनि कैसे उत्पन्न करनी चाहिए उसे यह बताना उचित है। उच्चारण-शास्त्र इस बारे में सब कुछ बता सकता है। (२) ठीक गति के साथ पढ़ सकना। पढ़ने की एक उचित गति होती है। न तो उससे तेज और न उससे धीरे रुक रुक कर पढ़ना चाहिए। इस दोष मे मानसिक व्यापार अथवा शारीरिक व्यापार दोनो में से किसी मे त्रुटि हो सकती है। सम्भव है कि अक्षरों को बालक जल्दी न पहचान सकता हो। जिह्वा लड़खड़ाती हो या उसके हिचकने का कारण अंतःक्षोभिक हो। (३) भावुकता—यह तो मानसिक व्यापार पर पूर्ण रीति से निर्भर है। यदि बालक की अंतःक्षोभिक स्थिति में कुछ भी गड़बड़ी होगी तो यह दोष तुरन्त उत्पन्न हो जायगा। डरकर काम करनेवाला बालक कभी ठीक नहीं पढ़ सकता। पढ़ते समय अध्यापक का भय बिलकुल दूर हो जाना चाहिए। (४) **समझकर पढ़ना**। पढ़ाई यदि केवल तोते के समान ध्वनि उत्पन्न करना है तो वह वृथा है। बालक जो पढ़ता है उसे समझता है या नहीं इसका जानना आवश्यक है।

पढ़ने का मुख्य उद्देश्य इन सब लक्षणो से यही प्रतीत होता है कि पढाई के द्वारा पढ़नेवाला दूसरे व्यक्ति के विचार, भाव और ज्ञान का एक नियत समय मे समझ सके और एक तीसरे व्यक्ति को इन भावो को प्रकट कर सके। अध्यापक प्राय· पढ़ने के उस भाग पर जो यन्त्रवत् होता है अधिक ध्यान देते है और उसकी त्रुटियो को दूर करने का प्रयत्न करते है। परन्तु विशेष ध्यान उन्हे पढ़ने के मानसिक व्यापार की ओर देना चाहिए। मानसिक व्यापार के भी दो मुख्य अङ्ग है एक बुद्धि-विषयक और दूसरा अंतःक्षोभिक। वहुत-से अध्यापक यह अनुमान करते है कि किसी पाठ को समझकर पढने मे बालक को केवल बुद्धि-विषयक अङ्ग का प्रयोग करना पड़ता है परन्तु ऐसा नहीं है। पढ़ने के मानसिक व्यापार मे वालक, अपनी अंत.क्षोभिक स्थिति का पूरा पूरा उपयोग करता है और वहुत-सी त्रुटियो का कारण उसकी अंतक्षोभिक स्थिति ही होती है। अगर हम उन दोपो पर ध्यान दे जो अशुद्ध कल्पना करने के कारण उत्पन्न होते हैं तो यह वात हमे तुरन्त स्पष्ट हो जायगी। यदि किसी पढ़े हुए पाठ का आशय वालक से पूछा जाय हो हमे मालूम हो जायगा कि वह जो कुछ वतलाता है उसमें कुछ तो वह है जो उसने शब्दार्थ इत्यादि की सहायता से समझा है और कुछ वह है जो उसकी कल्पना और अंतक्षोभो के मिश्रण से उत्पन्न हुआ है।

हिज्जे करने के दोषो पर अगर विचार किया जाय तो भी यह प्रतीत होगा कि बालक के मानसिक व्यापार का विश्लेषण आवश्यक है। बालक जब हिज्जे करने मे अशुद्धियाँ करते हैं तो प्राय: अध्यापक यही मान लेता है कि उन्होंने हिज्जो को याद नहीं किया। हर हिज्जे की त्रुटि एक-सी नहीं होती और न उसका कारण ही एक होता है। इसलिए हर एक का उपाय भी एक ही नहीं है। 'इ' और 'ह' देखने मे कुछ कुछ समान दिखाई पड़ते हैं। इसलिए बालक 'कह' की जगह 'कइ' लिख देता है। 'ड' और 'ढ' अगर स्पष्ट न बोले जायँ तो गड़बड़ी हो सकती है। ठीक न सुनने के कारण बालक 'गढे' की जगह 'गडे' लिख देता है। ठीक न सुनना या देखना, आगे का पीछे समझ जाना, दो बार उसी शब्द को लिख देना, मिले अक्षर न मिला सकना, अशुद्ध उच्चारण जानना, इत्यादि बहुत-से कारण है जिनसे अशुद्धियाँ उत्पन्न हो जाती है। इनमें से बहुत-सी ऐसी है जिन पर समझदार अध्यापक ध्यान देता है और देना ही चाहिए। परन्तु यह सब अशुद्धियाँ शब्दो की आकृति, ध्वनि, इत्यादि बातो से सम्बन्ध रखती है। कुछ दोष ऐसे हैं कि जिनका सम्बन्ध शाब्दिक बातो से नहीं है परन्तु उनका सम्बन्ध हिज्जे करनेवाले के व्यक्तित्व से है। वे अशुद्धियाँ सब विषयीगत मानी जा सकती है और मनोविज्ञान की दृष्टि से अध्यापक को उनकी ओर भी ध्यान देना चाहिए।

विषयीगत अशुद्धियो के कई कारण हो सकते है। भूल-चूक एक ऐसा कारण है जिससे कितनी अशुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। भूल-चूक सभी से हो सकती है परन्तु प्राय: वही बालक अधिक भूल करते है, और शब्दो को अशुद्ध लिखते हैं, या छोड़ जाते है जिन्हे अपने मानसिक व्यापार पर पूरा अधिकार नहीं होता। मन पर पूर्ण अधिकार होना तो व्यक्तित्व का एक मुख्य गुण है। कुछ अशुद्धियाँ तब होती है जब कि बालक ठीक हिज्जे नही जानता और अपनी ओर से गढ़ने का प्रयत्न करता है। अक्षरो के मिलाने मे इस प्रकार की गढ़न्त बहुत होती है। ऐसा भी होता है कि कोई कठिन शब्द, जैसे छोटे बालको के लिए 'स्मृति', बालक की समझ मे नहीं आता। उस शब्द के हिज्जे न जानते हुए बालक 'सरन्ति' लिख देता है। अगर वही शब्द कई बार एक ही इमला मे लिखना पड़ता है तो हर बार वह इसको भिन्न भिन्न रीति से लिखता है। कुछ अशुद्धियाँ बालक की शारीरिक और मानसिक आदतो पर निर्भर हैं और बालक उन्हे सदा करता है। बहुधा अशुद्ध पढ़ाई या उच्चारण के कारण कुछ अशुद्ध हिज्जे बालक के ध्यान में ऐसे जम जाते है कि वह उन्हे ध्यान से हटा नही सकता। इसी लिए अध्यापक से यह कहा जाता है कि वह जो नई बात बतावे वह ठीक ही होनी चाहिए नहीं तो अशुद्ध छाप लगकर बालक की अशुद्धि करने की आदत पड़ जाती है। कुछ अशुद्धियाँ बालक की कल्पना और अंत:क्षोभिक स्थिति से उत्पन्न होती

है। जब इमला लिखाया जाता है तब जो कुछ वह लिखता है वह वही होता है जो उसकी समझ मे आता है। अगर किसी कारण जो लिखाया जाता है उसमें, और जो वह समझता है, उसमें अन्तर होता है तो कहीं कहीं अण्ड-बण्ड शब्द लिख देता है। 'जाने' की जगह 'आना' लिख जाता है। जैसी अण्ड-बण्ड स्थिति बालक की भाववृत्ति में होती है वैसी ही उसके शब्दो के फेर-फार करने से प्रकट हो जाती है।

गणित और विशेपकर अङ्कगणित ऐसा विपय है जिसमें बालक को सबसे अधिक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। कुछ बालक तो ऐसे होते है जो इस विपय में कुछ भी नहीं सीखते या इतने धीरे धीरे सीखते हैं कि हम उन्हे मूर्ख या बुद्धिहीन समझने लगते है। ऐसा भी देखा गया है कि कुछ बालक इस विषय में कमजोर होते हुए भी दूसरे विपयों मे चतुर होते हैं। इन बालको को मन्दबुद्धि मान लेना उचित न होगा। वास्तव मे इन बालको को गणित पढ़ाते समय रुचि और शिक्षा-प्रणाली का उचित ध्यान नही रक्खा गया। किसी विपय में अरुचि उत्पन्न हो जाने के उपरान्त बालक के लिए उसमें ध्यान देना बहुत कठिन हो जाता है। 'अंक' का ज्ञान बालक को वस्तुओं-द्वारा और क्रियात्मक रीतियो से देना चाहिए। 'अंक' क्या है और उसका क्या महत्त्व है यह बात तो बहुत आगे चलकर स्पष्ट होती है। शिक्षा-प्रणाली को पहले ही से प्रत्याहृत बना देना उचित नहीं है।

मान लीजिए कि बालक को गणित से अरुचि नही है। अब बालक की कठिनाइयो का पता लगाने के लिए हमे यह देखना पडेगा कि गणित मे कौन-कौन सी मानसिक क्रियाओं की आवश्यकता है। जो बालक गणित का प्रश्न हल नहीं कर सकता उसे कौन-सी क्रिया करने मे कठिनाई पड़ती है। गणित में नाना प्रकार की स्मृति की आवश्यकता पड़ती है। बहुत कुछ तर्क करना पड़ता है। फिर विश्लेपण कर सकना, मिलान कर सकना, प्रत्याहार कर सकना, निगमन कर सकना, संश्लेषण कर सकना इत्यादि इत्यादि क्रियाएँ है जिनका प्रयोग विद्यार्थी के मन को करना पड़ता है। उचित प्रश्न देकर और बालको से क्रिया कराकर अध्यापक को यह पता लगाना पड़ेगा कि कौन-सी क्रिया मे बालक कठिनाई का अनुभव करते है।

इन मानसिक व्यापारो के जान लेने के उपरान्त यह भी पता लगाना पड़ेगा कि गणित की कौन कौन-सी क्रियाएँ ऐसी है जिनमें बालक अधिक अशुद्धियाँ करता है। कुछ मुख्य क्रियाएँ जैसे जोड़, बाकी, गुणा, भाग, भिन्न, दशमलव ऐसी हैं जिनका उपयोग प्रश्नो को करते समय बार बार करना पडता है। जिस क्रिया के करने मे बालक कमजोर होगा उसी प्रकार के प्रश्न करने मे वह अशुद्धियाँ करेगा। इन हर एक मुख्य क्रियाओ के जुदे जुदे अंग है जिनका विश्लेपण अध्यापक को करना पड़ेगा और यह पता लगाना पड़ेगा कि बालक की कठिनाई क्रिया के किस अंग मे है। उसका ज्ञान होने से

बालक की उस कठिनाई को दूर करने से बालक को बड़ा लाभ होगा।

उदाहरणार्थ, गुणा की क्रिया को लीजिए। ३५८७ को ३४२ से गुणा करना है। इसे मन मे बालक नहीं कर सकता। अब इसके करने मे कई मुख्य क्रियाएँ करनी पड़ती है:—(१) गुणनफलो या पहाड़ो का याद होना। यह स्मृति पर निर्भर है। यदि पहाड़ो के याद न होने के कारण अशुद्धियाँ होती होगी तो उसका पता चल जायगा। (२) हासिल लेना। पहाड़ा ठीक जानते हुए इकाई का अङ्क रखकर आगे हासिल लेने में अशुद्धि हो सकती है। इसका भी पता चल सकता है। (३) अङ्को को अपने स्थान पर रख सकना। (४) शुद्ध जोड़ लगा सकना। अध्यापक के केवल इतने जानने से ही काम नहीं चलेगा कि बालक गुणा के प्रश्न ठीक नहीं लगा सकता। उसे यह जानना भी आवश्यक है कि गुणा के प्रश्न करने की क्रिया के किस अङ्ग में बालक अशुद्धि करता है। यह जान लेने से थोड़े समय में गुणा करने की कठिनाई निवारण हो सकती है। किसी एक क्रिया के एक अङ्ग में कमज़ोरी होने से केवल वही क्रिया नहीं बल्कि दूसरी सब क्रियाएँ जिनमे उसका उपयोग होता है बिगड़ जाती हैं। यदि अध्यापक अपने काम में सचमुच सफलता प्राप्त किया चाहता है तो उसे चाहिए कि बालक की अशुद्धियो का ठीक विश्लेषण करके उसकी कमज़ोरी का पता लगावे।

अन्त मे हम फिर उसी बात पर लौटना चाहते है जिसका वर्णन हमने पहले पाठ के आरम्भ मे किया था। वर्तमान काल के शिक्षा-शास्त्र मे, जिस पर मनोविज्ञान का पूरा प्रभाव पड़ा है, बालक पर पूरा ध्यान दिया जाता है। अध्यापक के लिए केवल विषय जानना पर्याप्त नहीं है। अध्यापक के लिए बालक का जानना उतना ही आवश्यक है जितना कि विषय का। मनोविज्ञान के अध्ययन से बालक के मानसिक व्यापारो का पूरा पता चल जाता है। उसके जान लेने से अध्यापक को अपने कार्य मे पूरी सहायता मिलती है। बालक को जानना और अपनी शिक्षा-पद्धति को उसके अनुकूल और उसके लिए लाभदायक बनाने की चेष्टा करना अध्यापक का मुख्य कर्तव्य है।

परिशिष्ट—क

प्रश्नावली (QUESTIONS)

प्रश्न अध्यायो के क्रम से दिये गये है। अन्त मे कुछ विविध प्रश्न भी दिये है।

(१) मनोविज्ञान क्या है? शिक्षा शास्त्र और मनोविज्ञान मे क्या सम्बन्ध है? अध्यापक को मनोविज्ञान जानने से क्या लाभ हो सकता है, स्पष्ट रीति से समझाओ।

(२) प्राणी किसे कहते हैं? जड़ और प्राणी के व्यवहार मे क्या अन्तर है?

(३) मस्तिष्क मनुष्य के शरीर का राजा क्यो माना जाता है? मानसिक और शारीरिक क्रियाओ मे क्या सम्बन्ध है?

(४) परम्परा से क्या समझते हो? परम्परा और परिस्थिति मे क्या सम्बन्ध है?

(५) कुछ मनोविज्ञानवेत्ता मनुष्य के जीवन मे परम्परा का महत्त्व मुख्य मानते है और कुछ परिस्थिति का। तुम्हारी इस बारे मे क्या सम्मति है?

(६) प्राकृतिक प्रवृत्ति किसे कहते है? प्राकृतिक प्रवृत्तियो के व्यापार पर शिक्षा का कार्य कहाँ तक निर्भर है?

(७) 'मनोविकार मनुष्य के व्यवहार पर बहुत प्रभाव डालता है। यह प्रभाव बुरा और भला दोनो हो सकता है,' कुछ उदाहरणों द्वारा समझाओ कि बालको के मनोविकार को उचित व्यवहार मे लाने के लिए क्या उपाय करोगे?

(८) अपने मन की गति निम्नलिखित अवस्थाओ में वर्णन करो—

(क) प्रेमी से बहुत दिनो उपरान्त मिलने पर।

(ख) अपनी पुरानी पाठशाला को फिर देखने पर।
(ग) कोई प्राकृतिक दृश्य का चित्र देखने पर।
(घ) अस्पताल मे बीमारो के कमरो मे घूमते समय।

(६) 'विधायकता और कुतूहल दोनो ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनसे कि अध्यापक को अपने कार्य मे बहुत सहायता मिलती है।' कुछ विषय जो तुम स्कूल मे सिखाते हो उनमे से उदाहरण लेकर इस बात को स्पष्ट रीति से समझाओ।

(१०) झगड़ालूपन बालको मे कब अधिक प्रबल होता है? पाठशाला के काम मे उसको किस प्रकार उत्तम रीति से उचित मार्ग मे लगाओगे?

(११) 'सूचना से बालको को धोखा दिया जा सकता है पर बालक को लाभ भी बहुत होता है।' सूचना को किस प्रकार काम मे लाओगे जिससे लाभ हो और बुरा परिणाम न निकले।

(१२) किसी पाठशाला की चाल अथवा रिवाज से क्या समझते हो? रिवाज के बनाने मे बालक की कौन कौन-सी प्रवृत्तियो का और किस प्रकार प्रयोग किया जाता है?

(१३) बालको को क्रीडा करते तुमने देखा ही होगा। बालको की आयु मे ध्यान रखते हुए उनके उस क्रिया के अभिप्राय का विश्लेषण करो।

(१४) वर्तमान मनोविज्ञान ने बालको को खेल के द्वारा शिक्षा देने पर बहुत जोर दिया है। 'खेल के द्वारा शिक्षा' से क्या समझते हो? उदाहरणो-द्वारा बताओ खेल का प्रयोग किस प्रकार करोगे।

(१५) स्थायीभाव किसे कहते हैं? स्पष्ट रीति से समझाओ कि बालकों में देशसेवा का स्थायीभाव किस प्रकार उत्पन्न करोगे।

(१६) कौन कौन-से स्थायीभाव तुम बालको मे उत्पन्न करना उचित समझते हो ? ऐसे कौन से प्रयोग करोगे जिनसे कोई बुरा भाव न उत्पन्न होने पावे ?

(१७) हठ और व्यवसाय मे क्या अन्तर है ? व्यवसाय को गुण क्यो माना है ? व्यवसाय का प्रयोग बालको से कब कराना चाहिए ?

(१८) पाठशाला की कुछ उन प्रणालियो और सस्थाओ का वर्णन करो जिनसे बालको को सच्चरित बनाने की चेष्टा की जाती है।

(१९) ज्ञानेन्द्रिक शिक्षण से बालको को क्या लाभ होता है ? बालको की ज्ञानेन्द्रियो के शिक्षण के लिए क्या क्या उपयोग करने चाहिए ?

(२०) किसी निरीक्षा-सम्बन्धी पाठ को, जिसे तुमने देखा हो, वर्णन करो। बालक और अध्यापक का ऐसे पाठ मे क्रमानुसार क्या-क्या भाग होना चाहिए ?

(२१) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस बात को समझाओ कि शिक्षा-पद्धति मे दस्तकारी के प्रयोग पर वर्तमान काल में क्यो अधिक ज़ोर दिया जाता है।

(२२) अवधान किसे कहते है ? अवधान और रुचि मे क्या सम्बन्ध है ?

(२३) कहा जाता है कि आधुनिक शिक्षा-प्रणाणी मे बालक की रुचि पर बहुत ध्यान दिया जाता है। ऐसा करने से बालक के कार्य क इतना सरल बना दिया है कि उसे कुछ लाभ नहीं होता। इस टीका से कहाँ तक सहमत हो ? अपने विचार प्रकट करो।

(२४) पाठशाला मे बालको का ध्यान आकर्षित करने के लिए क्या-क्या उपाय प्रचलित है ? तुम किनसे सहमत हो और किनसे नहीं, विधिपूर्वक समझाओ।

(२५) बालको को किन किन कार्मो और विषयों मे ध्यान देने मे कठिनाई होती है ? यह बताओ कि तुम क्या उपयोग करोगे जिससे वे कठिनाइयाँ निवारण हो सकें।

(२६) यह कैसे मालूम करोगे कि किसी दरजे मे बालक अध्यापक या पाठ की ओर ध्यान दे रहे है या नहीं ?

(२७) विचार सम्बन्ध से क्या समझते हो ? स्मृति विचार सम्बन्ध पर कहाँ तक निर्भर है ?

(२८) बालको को परीक्षा के नम्बर, क्रिकेट खेल के रन, इत्यादि तो सुगमता से याद रहते है परन्तु इतिहास की मितियाँ वे भूल जाते हैं। इसका क्या कारण है ? स्पष्ट रीति से समझाओ।

(२९) स्मृति के सम्बन्ध मे जो ऐसे प्रयोग किये गये हैं जिनसे अध्यापक को अपने काम मे सहायता मिलती है, उनका सक्षेप मे वर्णन करो।

(३०) बालको को जो कुछ पढाया जाता है उनमे से बहुत कुछ उन्हे याद भी करा देना चाहिए। कुछ विषयो से उदाहरण लेकर अपनी प्रणाली समझाओ।

(३१) निम्नलिखित बातो के याद करने के लिए क्या क्या उचित रीति समझते हो—

(क) एक २५ पक्ति की कविता।

(ख) व्याकरण की परिभाषाएँ।

(ग) पहाडे।

(घ) किसी मित्र के घर के पते को।

(३२) रूसो (Rousseau) ने कहा है कि 'बालको को किसी आदत के डालने की आवश्यकता नहीं है।' जेम्स (James) का कहना यह है कि 'पाठशाला का मुख्य कर्तव्य है कि बालक में सभी बातों की उचित आदतें डाली जायँ।' दोनों विचारो पर ध्यान से सोचकर अपने विचार प्रकट करो।

(३३) कौन कौन-सी आदतें तुम बालको में उत्पन्न कराना उचित समझते हो ? पाठशाला में उनके उत्पन्न करने के लिए क्या उपाय करोगे ?

(३४) अपनी कुछ मुख्य मानसिक और शारीरिक आदतो का वर्णन करो और इस बात का विश्लेषण करो कि तुमने उन्हे किस प्रकार सीखा ।

(३५) बालको मे भावना-शक्ति का विकास किस प्रकार होता है ? शिक्षा मे क्या क्या उचित प्रयोग करने चाहिए जिनसे यह विकास उत्तम हो ।

(३६) मोन्टेसोरी (Montessori) का यह कथन है कि 'परियो की कहानियो से छोटे बालको पर बुरा प्रभाव पडता है इस कारण उन्हे इनसे दूर रखना चाहिए ।' इस बारे मे तुम्हारे क्या विचार हैं ?

(३७) पाठशालाओ की कितनी शिक्षा-प्रणालियो के सम्बन्ध मे यह शिकायत है कि वे कला-शास्त्र की ओर ध्यान नहीं देतीं ? यह बताओ कि बालको मे सौन्दर्य-बुद्धि के विकास के लिए पाठशाला मे क्या क्या किया जा सकता है ।

(३८) अपने किसी अनिद्र स्वप्न का वर्णन करो और अपनी कल्पनाओं का विश्लेषण करो ।

(३९) मानसिक थकान किस प्रकार उत्पन्न होती है ? इसका कैसे पता लगा सकते हैं कि किसी कक्षा के बालक थक गये हैं । थकान दूर करने का क्या यत्न करोगे ?

(४०) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पाठशाला के समय-विभाग में किन किन बातो पर ध्यान रखना चाहिए ?

(४१) बुद्धि से क्या समझते हो ? बुद्धि और विद्या मे क्या अन्तर है ?

(४२) यह कहा जाता है कि 'बालक की नैसर्गिक बुद्धि मे शिक्षा से वृद्धि नहीं की जा सकती।' जो कुछ तुम इस बारे मे विचार रखते हो, प्रमाणों-द्वारा स्पष्ट करो।

(४३) बुद्धि परीक्षा के लिए क्या क्या प्रयोग किये गये हैं? उनका सक्षिप्त वर्णन करो।

(४४) अपने प्रात की स्थिति को ध्यान मे रखकर बताओ कि बुद्धि-परीक्षा-पत्र बनाने मे किन किन बातो को सम्मिलित करोगे।

(४५) पाठशाला मे मार-पीट की शासन-प्रणाली से तुम कहाँ तक सहमत हो? शासन की प्रणाली पर मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रकाश डालो।

(४६) शिक्षा क्या है? उसके उद्देश्य के बारे मे अपने विचार प्रकट करो।

(४७) पाठशाला को 'छोटा समाज' कहा जाता है। तुम्हारी सम्मति मे पाठशाला बाह्य समाज का नमूना कहाँ तक हो सकता है?

(४८) 'बालचरमण्डल' का काम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बड़ा उपयोगी गिना जाता है। ऐसा क्यो है? तुम किस आयु के बालको के लिए इसे अधिक उपयोगी समझते हो?

(४९) 'ज्ञात से आरम्भ करके अज्ञात को बालक को सिखाने की चेष्टा करनी चाहिए।' उदाहरण द्वारा इस शिक्षा की रीति को समझाओ।

(५०) प्रयोगो और क्रियाओं के करने से मनोविज्ञान को क्या लाभ है? प्रयोगिक मनोविज्ञान की उत्पत्ति से अध्यापक को अपने कार्य में कहाँ तक सहायता मिल सकी है?

(५१) कुछ नई शिक्षा-प्रणाली, जैसे डाल्टन प्लैन (Dalton Plan) अथवा प्राजेक्ट मेथड (Project Method) इत्यादि पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार प्रकट करो।

परिशिष्ट—ख

Glossary

ENGLISH HINDI

Abstract—प्रत्याहृत

Abstraction—प्रत्याहार

Absurd – व्याहत

Adolescence – तारुण्य

Adjustment – संघटन

Æsthetic – रस सम्बन्धी, कला-सम्बन्धी

Æsthetics – कला शास्त्र

Æsthetic faculty—सौंदर्य-बुद्धि

Affect – भावविकार

Afferent – अन्तर्वाही

Aim – उद्देश्य

Analysis—विश्लेषण

Animal – प्राणी

Association – सहचार

Association of ideas—विचार-सम्बन्ध

Attention – अवधान

Automatic—स्वतः प्रवृत्त

Auditory – श्रावण

Apperception—समवबोध

Behaviour – व्यवहार

Brain—मस्तिष्क

Cell – कोष

Cerebellum—लघु मस्तिष्क

Cerebrum—वृहत् मस्तिष्क

Character—चरित्र

Characteristic—स्वभाव, विशेष गुण

Classification – जाति विभाग, राशीकरण

Cohesion – संसक्ति

Cohesion of ideas – प्रत्यय सम्बन्ध

Complex—मिश्रित, पेचीदा

Conation – व्यवसाय, कामना

Concept – सामान्य प्रत्यय

Conception – मननधारण

Conservation – रक्षण, अविनाश

Consciousness—चेतना

Stream of consciousness – चेतना प्रवाह

Constructiveness – निर्माणकता

Constructive—निर्माणात्मक

Constructive imagination—निर्मित कल्पना

Concentration—एकाग्रता

Contiguity—अव्यवधान, अव्यवधानता-सन्निधि

Correlation—अनुबन्ध

Coefficient of correlation—अनुबन्ध गुणक

Cramming—तोता-रटन्त

Creation—उत्पादन

Creative—उत्पादक

Critical—परीक्षात्मक आलोचनात्मक

Curiosity—कुतूहल, जिज्ञासा

Day dreaming—अनिद्र स्वप्न, हवाबन्दी, ख्याली पुलाव।

Deduction—निगमन

Definition—परिभाषा

Development—विकास

Dissociation—पृथकचार

Efferent—बहिर्वाही

Effort—प्रयास

Emotion—अन्त क्षोभ, मनोविकार

Energy—शक्ति

ulation—स्पर्धा

Experience—अनुभव

Experiment—प्रयोग, क्रिया

Environment—परिस्थिति

External—बाह्य

Faculty—शक्ति

Fancy—तरंग, उत्प्रेक्षा

Fantastic—औत्प्रेक्षिक

Feeling—क्षोभ

Forgetfulness—विस्मृति

Frequency—अभ्यास

Fear—भय

Formation—गठन

Function—वृत्ति, कार्य

Generalization—अनुगम

Group—समूह

Habit—आदत, व्यसन, अभ्यास

Heredity—परंपरा

Hypothesis—कल्पना

Ideal—आदर्श

Idea—विचार, भाव

Ideation—अवधारण

Image—प्रतिमा

Imagery—प्रतिमा-कल्पना

Imagination—कल्पना, भावना

tation—अनुकरण

Immediate—अनन्तर, अव्यवहित
Implicit—अंतर्गत
Impulse—आवेग
Individualiy—व्यक्तित्व
Induction—अगमन
Innate—नैसर्गिक
Insight—सूक्ष्म दृष्टि
Inhibition—स्तम्भन
Intelligence—बुद्धि, मनीषा
Intellectual—बुद्धि-विषयक
Interest—रुचि
Introspection—अंतर्दृष्टि
Instinct—प्राकृतिक शक्ति
Instinctive intelligence—नैसर्गिक बुद्धि
Interaction—परस्पर क्रिया
Involuntary—अनैच्छिक, अप्रयास
Incidental—प्रासंगिक
Interpretation—अनुवादन, विवरण
Invention—नवकल्पना
Illusion—माया, मरीचिका
Internal—आंतरिक
Judgment—निर्णय
Knowledge—विद्या, ज्ञान
Living organism—प्राणी
Manifestation—आविर्भाव
Material—भौतिक
Mind—मन
Mental—मानसिक
Mental development—मन विकास
Measurement—मापन, नापना
Memory—स्मृति, स्मरणशक्ति
Method—प्रणाली
Motive—प्रयोजन
Morality—सदाचार
Modulla oblongata—सुषुम्ना शीर्षक
Natural—प्राकृतिक, स्वाभाविक
Nature—प्रकृति
Need—वांछा
Nerve—नाडी-तंतु
Nerve Cell—नाडी-कण (कोष्ठ)
Norm—प्रतिमान
Objective—विषयात्मक
Observation—निरीक्षण
Operation—व्यापार
Organization—व्यूहन
Originality—नवीनता, मौलिकता
Olfactory—घ्राण

Ownership—ममता
Pedagogy—शिक्षा शास्त्र
Percept—सविकल्पक प्रत्यक्ष
Perception—सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान
Perseverance—अनुरोध
Phase—अवस्था
Phonetics—उच्चारण शास्त्र
Physical—शारीरिक, भौतिक
Passive—निष्क्रिय
Permanent—स्थिर
Personality—व्यक्ति
Phenomenon—प्रमेय, विकृति
Play—खेल, क्रीडा
Power—शक्ति
Presentative—प्रत्यक्षात्मक
Principle—मूल, सिद्धान्त
Practical—क्रियात्मक
Pragmatic—कृत्यसाधक
Pragmatism—कृत्यसाधकतावाद
Physiology—शरीर-शास्त्र
Psychology—मनोविज्ञान
Psychologist—मनोविज्ञानवेत्ता
Psychic—मानसिक
Pugnacity—अड़, झगड़ालूपन
Purpose—अभिप्राय

Qualitative—गुणात्मक
Quantitative—परिमाणात्मक
Reaction—प्रतिक्रिया
Recency—नवीनता
Reality—वास्तविकता
Reasoning—तर्क
Recognition—प्रत्यभिज्ञा, पहिचानना
Recall—पुनरुज्जीवन
Reflex—प्रतिक्रियात्मक
Reproduction—पुनरुत्पादन
Retention—धारण, स्तभन
Revival—पुनरुज्जीवन
Responsibility—भार, उत्तरदायित्व
Representation—प्रतिस्मरण
Remote—व्यवहृत
Repetition—दोहराना, पुनरावृत्ति
Satisfaction—संतोष, प्रसाद
Science—विज्ञान
Scientist—विज्ञानवेत्ता
Scientific—वैज्ञानिक
Self—आत्म, स्व
Self-conciousness—आत्मज्ञान
Self-determining—स्वतंत्र